प्रकाशक एवं मुद्रक—
पं० हजारीलाल शर्मा,
जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लि०,
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट
कलकत्ता-७।



प्रथम संस्करण, १६४८

मूल्य, २।।)

भूमिका

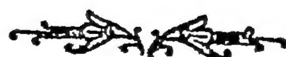
सुप्रसिद्ध साहित्य-महारथी श्री रामचन्द्र वर्मा को भगवान् ने भाषा की नस-नाड़ी समझने की विशेष प्रतिभा दी है। इस बात को वर्मा जी ने स्वयं स्वीकार किया है। वे जब छोटे थे और स्कूल में पढ़ते थे, तब भी हिन्दी-शब्दों की विशेष विवेचना करते थे। आपने उर्दू ले रखी थी; पर विवादास्पद हिन्दी-विषयों में निर्णय लेने के लिए लोग आप के ही पास पहुँचते थे। आगे चल कर तो आपने इस विषय में बड़ा काम किया। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने हिन्दी का सबसे बड़ा कोश 'हिन्दी शब्द-सागर' तैयार कराने की बात सोची, तो आप पर ध्यान गया। उस महाकोश के सम्पादन में आपने जो श्रम किया और फिर उसे भी मथ कर 'संक्षिप्त हिन्दी-शब्द सागर' रूपी रत्न-राशि निकाल कर जो यश-अर्जन किया, उससे उनकी प्रतिभा देश भर में देदीप्यमान हो गयी। 'शब्द-सागर' में शब्दों के पर्य्याय ही आपने दे दिये हों, सो बात नहीं है। शब्द-परिचय भी पूरी तरह से दिया है!

कोश-निर्माण के अनन्तर आपने जब देखा कि हिन्दी की दुर्दशा प्रयोगों में हो रही है, तब आप तिलमिला उठे। आपने 'अच्छी हिन्दी' नाम की एक क्रान्तिकारी पुस्तक लिख कर प्रकाशित की! लोग भद्दी हिन्दी लिखना छोड़े, अच्छी हिन्दी सब लिखने लगें, इसी उद्देश्य से दो सौ पृष्ठों में आपने भाषा-सम्बन्धी अपना सम्पूर्ण अर्जित और नैसर्गिक ज्ञान भर दिया है—गागर में सागर! पुस्तक प्रकाशित होते ही धूम मच गयी और देश भर के विश्व-विद्यालयों ने बी० ए०, एम० ए० तथा 'साहित्य-रत्न' आदि परीक्षाओं के पाठ्य-ग्रन्थों में इसे तुरत स्थान दिया! इससे बढ़कर पुस्तक की उपादेयता का प्रमाण और क्या हो सकता है? इन उच्च परीक्षाओं के छात्र ऐसे नहीं होते कि उन्हें उनकी मातृ-भाषा सम्बन्धी किसी पुस्तक को समझने के लिए कोई टीका या खुलासा अपेक्षित हो। परन्तु 'अच्छी हिन्दी' ऐसी गम्भीर और विवेचना-पूर्ण पुस्तक है कि इस पर कुछ लिखने

को मेरा मन चला। सो, मेरा यह प्रयास 'स्वान्तः सुखाय' ही है। यदि इससे उन उच्च परीक्षाओं के छात्रों को भी कुछ लाभ पहुँचे, तो इसे मैं एक आनुषंगिक फल समझूंगा। आम का रस ले लेने पर यदि गुठलियों के दाम भी उठ आयें, तो बुरा क्या ? सो, सम्भव है, छात्रों को कुछ लाभ पहुँचे और 'अच्छी हिन्दी' को वे कुछ अच्छी तरह समझ जायँ ! यदि ऐसा हुआ, तो मैं अपना सौभाग्य समझूंगा।

'अच्छी हिन्दी' की इस टीका में १, २, आदि क्रमाङ्क दे-देकर मैंने काम लिया है। इस तरह वर्माजी के वे विवेचन-वाक्य 'सूत्र'-रूप से मैंने लिए हैं। क्रमाङ्क ४० से आपको विशेष 'गम्भीर' विवेचन वर्माजी का मिलेगा। उससे इधर तो उनकी अपनी सुन्दर भाषा के नमूने हैं, जिनकी साधारण टीका मैंने कर दी है। इससे छात्र सब समझ जायेंगे और वर्माजी की इबारत की नकल करने में रत हो जायेंगे। आदर्श का अनुकरण लाभप्रद होता है; पर 'जाने बिनु न होइ परतीती' और 'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती' ! बस, मेरा काम तो उधर आकर्षण पैदा कर देना है, जिसके लिए ही यह 'टीका' है।

कनखल, युक्तप्रान्त
तिलक-पुण्यतिथि, २००५ वि० — किशोरी दास वाजपेयी



समर्पण

देशके [उन विश्व विद्यालयोंके] उन महाविद्वानों के कमनीय करकमलों में, जिन्होंने हमारे मित्र श्री रामचन्द्र वर्मा की 'अच्छी हिन्दी' को विभिन्न परीक्षाओं में इतनी जल्दी पाठ्य पुस्तक बनाकर हिन्दी का अतुल उपकार किया है !

कृतज्ञता-विनम्र
किशोरीदास वाजपेयी

गुरु पूर्णिमा, २००५ विक्रमीय

शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त और छन्द लोकाधीन शास्त्र हैं। इनके ग्रन्थकार लोक-प्रचलित स्वर, भाषा, शब्द और छन्दका वर्णन मात्र कर सकते है; परन्तु प्रवाहके विरुद्ध कोई अनुशासन नहीं दे सकते। प्रचलित प्रयोगोंका वर्णन कर देना इनका काम है। जो प्रचलित प्रयोगोंसे अनभिज्ञ हैं, वे इन ग्रन्थोंसे प्रचलित प्रयोगोंका वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, और जो प्रचलित प्रयोगोंसे अनभिज्ञ नहीं हैं, उनके लिए ये वाग्विलासके साधन हैं।

प्रकाशकीय

यह प्रथम जनवाणी-प्रकाशन हिन्दी-जगत के सामने रखते हुए हमें विश्वास है कि यह एक ठोस उपयोग की चीज सिद्ध होगी। हिन्दी के स्वरूप शब्दानुशासन और भाषा-विज्ञान का आप इसमें सुन्दर सम्मिश्रण पायेंगे। वर्माजी के वाक्य केवल गलतियों के उदाहरणों के रूप में उद्धृत किये गये हैं। शेष सब स्वतन्त्र विवेचन है।

प्रत्येक जीवित भाषा निरन्तर बदलती रहती है और तदनुसार उसकी प्रकृति का निरूपण करनेवाला उसका व्याकरण भी बदलता रहता है। द्विवेदी-युग में भाषा की 'अस्थिरता' और 'अनस्थिरता' पर काफी चर्चा हुई, पर वह चर्चा सदा के लिए काफी नहीं है। उस चर्चा को जारी रखने की जरूरत है, क्योंकि अलंकारों से भाषा की शोभा तभी बढ़ती है, जब उसका कलेवर परिशुद्ध और स्वस्थ हो। इसी दिशा में वाजपेयीजी का यह आधुनिकतम प्रयास है।

अनेक कारणों से इसमें छपाई की अशुद्धियाँ रह गयीं, जो न रहनी चाहिए थीं। उनके लिए अन्त में शुद्धिपत्र जोड़ दिया है। कृपालु पाठक सुधार कर पढ़ लेंगे। इनमें बहुत-सी अशुद्धियाँ ऐसी हैं जिन्हें अभी तक अशुद्धियाँ नहीं माना जाता, पर इस पुस्तक को ध्यान से पढ़ने के बाद जिन्हें पाठक अशुद्धियाँ मानने लगेंगे। सम्मान्य पाठकों को हम विश्वास दिलाते हैं कि अगले संस्करण में शुद्ध मुद्रण पर पूरा ध्यान रखा जायगा। इति शम्।

कलकत्ता,
१५-२-४९

हजारीलाल शर्मा

इस पुस्तक में यत्र-तत्र

१. भाषा-सम्बन्धी गलतियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और संशोधन
२. हिन्दी के व्याकरणों और कोषों पर एक दृष्टि
३. अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति
४. भाषा के इतिहास पर विचार
५. शब्दोच्चारण पर विचार
६. वाक्यविन्यास पर विचार
७. मुहावरों के सही स्वरूप पर विचार
८. विरामचिन्हों के प्रयोग पर विचार

पं० किशोरीदास जी वाजपेयी की अप्रतिम
कृति :—

ब्रजभाषा का व्याकरण

हिन्दी-साहित्य में यह अपने ढँग की अकेली और प्रथम पुस्तक है। ब्रजभाषा के व्याकरण की मौलिक उद्भावना इसमें आपको मिलेगी और विस्तृत भूमिका में हिन्दी के प्रचलित व्याकरण की तर्कपूर्ण आलोचना पढ़ कर यह भी आप समझेंगे कि छात्र-जीवन में हिन्दी-व्याकरण के नाम पर हमें जो कुछ रटाया गया था, जो कुछ पढ़ाया गया था, वह सब कैसा कूड़ा-कर्कट था! व्याकरण के नाम पर हिन्दी में जो कुछ चल रहा था, उसे इस पुस्तक की भूमिका ने सचमुच रद कर दिया है! अब हिन्दी के नये व्याकरण इसी के आधार पर बनेंगे, बन रहे हैं।

यह पुस्तक प्रयाग-महिला विद्यापीठ की उत्तमा (सरस्वती), हिन्दी विश्व-विद्यालय, प्रयाग की उत्तमा (साहित्य-रत्न) तथा अन्य विश्व-विद्यालयों की एम० ए० परीक्षा के पाठ्यग्रन्थों में स्वीकृत है। मूल्य ३) रुपये

यह आप हमारे यहाँ से मँगा सकते हैं—

जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लि०

३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट,

कलकत्ता ७

ब्रजभाषा का व्याकरण

"ब्रजभाषा का व्याकरण हिन्दी में शायद यह पहला ही है। इसके लेखक पं० किशोरीदास जी वाजपेयी को बधाई !

यह ब्रजभाषा का ही व्याकरण नहीं है। इसकी भूमिका में हिन्दी (खड़ी बोली या राष्ट्रभाषा) के व्याकरणों की खासी आलोचना भी है, जिससे किसी अंश में यह 'व्याकरणों का व्याकरण' कहा जा सकता है। कोई पचास वर्ष पहले गूल्ड ब्राउन ने (ऐसा ही) अंग्रेजी-व्याकरणों का एक व्याकरण लिखा था।"

—अम्बिका प्रसाद वाजपेयी

"ब्रजभाषा का इतना सुन्दर और उपयोगी व्याकरण अब तक नहीं छपा था। इससे बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। अवश्य ही यह अध्यवसाय महत्त्वपूर्ण तथा प्रशंसनीय है।"

—हरिऔध

"पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। हमारे लिये यह बोधप्रद होगी। आशा है, इसका पर्याप्त प्रचार होगा।"

—मैथिलीशरण गुप्त

"यह पुस्तक उन लोगों के लिए तो उपयोगी है ही, जो ब्रजभाषा के वाङ्मय का अध्ययन करना चाहते हैं; परन्तु ऐसे लोगों के लिए तो और भी अधिक उपयोगी है, जो ब्रजभाषा में रचना करना चाहते हैं। पुस्तक संग्रह करने योग्य है !"

—सम्पूर्णानन्द

"पुस्तक बहुत ही सुन्दर और उपयोगी है।"

—अमरनाथ झा

शीघ्र प्रकाशित होगी—

भारतीय भाषा-विज्ञान

लें०—पं० किशोरीदास जी वाजपेयी, शास्त्री

लोग समझते हैं और अपनी समझ उन्होंने लिख कर प्रकट की है कि भाषा-विज्ञान का जन्म तथा विकास योरप में हुआ ! इससे बड़ा भ्रम फैला है और हमारे देश के प्रौढ़ विद्वानों पर इतना प्रभाव पड़ा है कि इस सम्बन्ध में वे आँखें बन्द करके योरोपीय विद्वानों के पीछे चल पड़े हैं। विचारधारा कुण्ठित हो गयी है। इस भ्रम का निरसन करने के लिये ही वाजपेयी जी ने उपर्युक्त पुस्तक लिखी है।

इस पुस्तक में आप देखेंगे, भारत में भाषा-विज्ञान का उन्मेष सब से पहले हुआ, स्वतन्त्र रीति से। यह राष्ट्र इस सम्बन्ध में किसी का 'अधमर्ण' नहीं, सबका 'उत्तमर्ण' ही है। भाषा-विज्ञान के जो मूल सिद्धान्त भारतीय मनीषियों ने उद्भावित किये थे, उनका प्रतिवाद आज तक किसी ने नहीं किया है, और सभी विद्वान उन्हीं का अनुवर्त्तन कर रहे हैं।

पुस्तक अपने ढंग की अद्वितीय है, यह दावे से कहा जा सकता है।

वाजपेयी जी की तीन पुस्तकें

१—लेखन-कला—इसे विद्वानों ने लेखन-कला के सभी श्रेणी के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी बताया है। व्याकरण, शब्द-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र-सम्बन्धी जो गलतियाँ प्रायः तरुण लेखकों से हो जाती हैं, उनका विश्लेषण कर के इस में प्रौढ़ लेखक ने बताया है कि उनसे बच कर भाषा को कैसे सजाया जाय।

मूल्य १॥) रुपया

२—ब्राह्मण, सावधान—यह वाजपेयी जी के तीन निबन्धों का संग्रह है:—१—ब्राह्मण, सावधान, २—वैष्णव धर्म और आर्य-समाज, ३—राष्ट्रीय युद्ध का सिंहावलोकन। तीनो ही निबन्धों में भारतीय इतिहास के उन महत्त्वपूर्ण अंशों पर प्रकाश डाला गया है, जो अब तक अन्धकार में थे। मूल्य ॥।) आने

३—कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास—राजनीतिक दलबन्दी से दूर एक निष्पक्ष साहित्यिक ने कांग्रेस के इतिहास में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों को देख कर जो रोचक निष्कर्ष निकाले वे आप इसमें पायेंगे।

मूल्य १) रुपया

उपर्युक्त पुस्तकें आप हमारे यहाँ से मँगा सकते हैं—

जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लि०

३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट,

कलकत्ता ७

कर्त्तव्यशास्त्र का प्रकरण-ग्रन्थ

मानवधर्म-मीमांसा

लें०:—पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री

—o—

आजकल चर्चा है कि सरकारी शिक्षा-सस्थाओं में धार्मिक शिक्षा जारी की जाय या नही। और यदि जारी की जाय, तो किस धर्म की शिक्षा जारी की जाय। विद्वान लेखक का कहना है कि देश के भावी नागरिकों को मानवधर्म की शिक्षा दी जाय, किसी मत-मजहब की नहीं। लेखक का कहना है कि ये मत-मजहब या सम्प्रदाय वस्तुतः ईश्वर-उपासना के भेद हैं जो एक प्रकार के (आस्तिक-) दर्शन में आते हैं। धर्मशास्त्र से इनका वैसा कोई सम्बन्ध नहीं है।

धर्मशास्त्र तो उन नियमों का शास्त्र है, जो समाज में शान्ति और सुव्यवस्था रखने के लिए बनाये गये। अतः धर्मशास्त्र इसी लौकिक जीवन को उन्नत बनाने के लिए है। इस प्रकार कर्त्तव्य-शास्त्र का ही नाम धर्मशास्त्र है। जो नास्तिक है, ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता, पर सत्य-अहिंसा और दान-क्षमा आदि नागरिक कर्त्तव्यों का समुचित पालन करता है, वह धर्मात्मा ही है। इन्हीं सामाजिक कर्त्तव्यों को 'धर्म' कहा गया है। इस तरह मानव-मात्र का धर्म एक ही है। किसी भी देश या समाज के लोग चोरी आदि को धर्म नहीं मानते। सभी इसको सामाजिक कर्त्तव्यनीति का नियम मानते हैं कि "दूसरों के साथ वह बात

न करो जो तुम नहीं चाहते कि दूसरे लोग तुम्हारे साथ न करें।" इस पुस्तक में इन धर्म-नियमों की तात्विक व्याख्या देख कर वे लोग मौन हो जायेंगे जो धर्म को अनावश्यक विषय कह कर इसका अधिक्षेप करते हैं। इस पुस्तक में आये हुए विषय तीन भागों में बांटे जा सकते हैं:—

१. धर्म-नियमों की व्याख्या

२. धर्म के नाम पर होनेवाले पाखण्ड का शास्त्रीय खण्डन

३. कर्त्तव्यपालन करते समय सामने आनेवाली समस्याओं को हल करने का प्रयास।

पुस्तक का यज्ञप्रकरण तो विद्वानों के लिए भी सोचने-समझने की चीज है। इसमें इस विचारधारा का खण्डन किया गया है कि वैदिक युग के लोग आग, पानी आदि प्राकृतिक तत्वों की पूजा किया करते थे। हमारा ख्याल है कि इससे धर्मसम्बन्धी एक बड़ा अन्धकार तो दूर होगा ही, साहित्यशास्त्र तथा काव्य में फैली हुई एक भ्रान्त धारणा भी समाप्त हो जायगी।

अनुमानित मूल्य ३।।) रु०

यह पुस्तक मार्च, १९४९ तक छपकर तैयार हो जायगी।

प्रकाशक :—

जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लि०

३६ वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता-७.

विषयसूची



चिन्हित स्थल विशेष विवेचन के हैं।

हिन्दी-प्रयोगका नमूना

अच्छी हिन्दीका नमूना



१—"भाषा वह साधन है, जिससे हम अपने मन के भाव दूसरों पर प्रकट करते हैं।"

इस लक्षण से गूँगे के संकेतों को भी भाषा समझा जा सकता है, जो अभीष्ट नहीं। लेखक की यह असमर्थता है कि अपने मन की बात ठीक-ठीक न समझा पावे। भाषा का सही लक्षण यह है—

'उस सार्थक शब्द-समूह को भाषा कहते हैं, जिससे हम अपनी बात सही-सही दूसरों को समझा सकते हैं।'

भाषा का स्वरूप समझाते समय शब्दों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए।

२—"पशु-पक्षियों आदि में भी राग, द्वेष, प्रेम और क्रोध आदि भाव उत्पन्न होते हैं। अपने ये भाव ये अपनी आकृति और ऐसे शब्दों द्वारा प्रकट करते हैं, जिन्हें हम 'चीत्कार' कह सकते हैं।"

यानी सिंह जो गर्जना करता है, वह 'चीत्कार' है। गौ अपने बच्चे के प्रति प्रेम प्रकट करने के लिए जो हुंकार करती है, वह उसकी 'चीत्कार' है। चिड़ियाँ सवेरे आनन्द से चहचहाती हैं, सो भी 'चीत्कार'। कैसी 'अच्छी' हिन्दी है ? और, 'उस अवला के मुँह से एक चीत्कार निकलकर अरण्य में गूँज गयी'—इस वाक्य में 'चीत्कार' का प्रयोग शायद गलत है ; क्योंकि 'अवला' शब्द का प्रयोग मानवी के लिए है, पशु-पक्षी के लिए नहीं ! 'चीत्कार' का अच्छा प्रयोग वर्माजी ने समझाया है !

वस्तुतः दुःखोद्रेक से उद्भूत ध्वनिको 'चीत्कार' कहते है और वह मनुष्य में भी सम्भावित है। पशु-पक्षियों के शब्दमात्र को 'चीत्कार' कह देना अपनी भाषा-सम्बन्धी अनभिज्ञता प्रकट करना है। सिंह की दर्प-संपृक्त गर्जना 'चीत्कार' नहीं है, न चिड़ियों का कल-रव ही 'चीत्कार' है। वर्माजी को अपने उस वाक्य में 'चीत्कार' की जगह 'अव्यक्त ध्वनि' कहना चाहिए था।

३—"हमारी वाक्-शक्ति का कार्य-क्षेत्र पशु-पक्षियों की वाक्-शक्ति के कार्य-क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है। इस विषय में भी हम पशु-पक्षियों से उतने ही आगे बढ़े हुए हैं, जितने बुद्धि या विवेक आदि में।"

मानो मानवीय भाषा बुद्धि के बिना ही बन गयी है ! इसमें बुद्धि-विवेक का कोई काम ही नहीं ! तभी तो कहा है—

"इस विषय में भी हम पशु-पक्षियों से उतने ही आगे बढ़े हुए हैं, जितने बुद्धि या विवेक आदि में।"

यदि वर्माजी 'विवेक' के आगे के दूसरे क्षेत्रों, इतना और दे देते, तो ठीक हो जाता। यह न्यून पदत्व भाषा के स्वरूप में वैसे ही अखरता है, जैसे हाथ में पाँच अँगुलियों की जगह दो-तीन का ही रह जाना!

इसके अतिरिक्त 'कार्य-क्षेत्र', 'वाक्-शक्ति' आदि की पुनरुक्ति भी देखने योग्य है! 'अच्छी हिन्दी' बनाने के लिए शायद 'लाटानुप्रास' का प्रयोग वर्माजी ने किया है, जो अलंकार न हो कर एक विकार हो गया है! एक हाथ में एक अँगूठे की जगह दो हो गये हैं! लिखना यों चाहिए था—

'वाक्-शक्ति में भी हम पशु-पक्षियों से उतने ही आगे बढ़े हुए हैं, जितने बुद्धि और विवेक के दूसरे क्षेत्रों में।'

वर्माजी ने 'कहीं अधिक' का भी प्रयोग खूब किया है! 'कहीं' की जगह 'बहुत' या 'अत्यन्त' आदि कोई शब्द चाहिए। 'कहीं' का प्रयोग तो तब होता है, जब 'कुछ ही अन्तर' हो। जैसे— 'बैल से घोड़ा कहीं अधिक चतुर होता है।' ऐसा प्रयोग न होगा—'हाथी भैंसे से कहीं अधिक शक्तिशाली होता है!' पशु-पक्षियों की अव्यक्त ध्वनि से मानवीय वाणी की तुलना क्या?

४—"बुद्धि या विवेक की तरह भाषा भी हमारे लिए <u>ईश्वर की सब से बड़ी देन है!</u>"

इसी तरह 'बुद्धि या विवेक की तरह रेलगाड़ी भी हमारे लिए ईश्वर की एक बड़ी देन है' और 'बुद्धि या विवेक की तरह 'अच्छी हिन्दी' भी हमारे लिए ईश्वर की एक बड़ी देन है, जो एम० ए० आदि की परीक्षाओं में चलती है।' रेल और 'अच्छी हिन्दी'

ईश्वर की ही बनायी चीजें हैं ! न तो रेल का आविष्कार किसी मनुष्य ने किया और न 'अच्छी हिन्दी' ही किसी ने लिखी ! सब ईश्वर की देन है ! मतलब शायद यह हो कि ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि दी और उस बुद्धि से उसने भाषा आदि की सृष्टि की। इस-लिए भाषा भी ईश्वर की देन ! यदि ऐसा है, तब यों कहना चाहिए था—'बुद्धि और विवेक मनुष्य के लिए ईश्वर की सब से बड़ी देन है, जिसके द्वारा उसने अन्यान्य कामों की तरह भाषा की भी सृष्टि की।'

यदि ऐसा नहीं, तो 'कढ़ी, भात, दही-बड़े भी मनुष्य के लिए ईश्वर की एक अच्छी देन है' यह भी कहा जायगा। ठीक है न ? 'सबसे बड़ी देन' न सही, 'देन' तो कहोगे न ?

वस्तुतः भाषा मनुष्यकी बनायी चीज है। ईश्वरने मनुष्य को ऐसी बुद्धि दी है कि उससे इसने जो अनेक महत्वपूर्ण आविष्कार किये हैं, भाषा उनमें से एक है और यह शायद इसका सब से अधिक महत्त्वपूर्ण काम है। भाषा ईश्वर की देन नहीं है, मानव-प्रतिभा की देन है।

५—'बहुत सम्भव है कि उस समय हम लोगों की अवस्था उस अवस्था से मिलती जुलती रही हो, जिस में हमें आज-कल गोरिल्ले और चिम्पैनजो आदि वानर दिखायी देते हैं।"

यह वाक्य अच्छी हिन्दी का नमूना कहा जा सकता है। 'अवस्था' का दो बार प्रयोग बहुत भद्दा है। 'गोरिल्ला' और 'चिम्पैनजी' के आगे 'वानर' शब्दका प्रयोग भी ऐसा ही है, जैसे 'मद्रासी आदमी भात अधिक खाते हैं' में 'आदमी'। और

'हिन्दी के लेखक मनुष्य कभी कभी बिना सोचे-समझे भी कुछ लिख जाते हैं' इस वाक्य में जैसे 'मनुष्य'। वर्माजी कह सकते हैं कि बहुत से लोग ऐसे भी हैं, जो यह नहीं जानते कि 'गोरिल्ला' वानर है, या चिड़िया! उन्हीं के लिये खुलासा किया गया है। ठीक! 'अच्छी हिन्दी' की रचना ही शायद ऐसे लोगों के लिये हुई है! वह वाक्य तब भी यों चाहिए—

'बहुत सम्भव है, उस समय हम लोगों की अवस्था आज कल के गोरिल्ले और चिम्पैनजी आदि वानरों से मिलती-जुलती रही हो!' वाक्य कितना छोटा हो गया! 'अवस्था' शब्द दुबारा नहीं आया, इससे कुछ कमी पड़ गयी क्या? ऐसा लगता है, जैसे किसी के हाथ की छठी अंगुली का डाक्टर ने आपरेशन कर दिया हो।

एक बात और। वाक्य में 'हम लोगों' की जगह यदि 'मनुष्य की' होता, तो अधिक अच्छा वाक्य बनता। यह भेद समझने के लिये बुद्धि पर बहुत अधिक जोर न देना पड़ेगा।

६—ज्यों ज्यों मनुष्यों के बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक आदि विकास होते गये, त्यों त्यों हमारा शब्द भाण्डार भी बढ़ता गया।"

मनुष्यों का विकास होता गया और शब्द-भाण्डार हमारा बढ़ता गया! अच्छा रहा न? 'हमारा' की जगह 'उनका' चाहिये।

'राजनीतिक आदि विकास होते गये' भी चिन्त्य है! तद्धित प्रयोग न करके इस तरह लिखना चाहिए था—'ज्यों-ज्यों मनुष्य

का बुद्धि, समाज, अर्थ और राजनीति में विकास होता गया।' 'राजनीतिक आदि विकास' उखड़ा-पखड़ा है। वस्तुतः केवल 'समाज का विकास' कहना चाहिये था, जिसमें बुद्धि, राजनीति आदि सब कुछ आ जाता है। 'ज्यों-ज्यों मनुष्य का सामाजिक विकास होता गया, त्यों-त्यों उसका शब्द-भाण्डार भी बढ़ता गया।' कितना चुस्त वाक्य हो गया? वाक्य में 'मनुष्यों के' इस बहुवचन की जगह हम ने 'मनुष्य के' यों एकवचन प्रयोग किया है। ऐसे स्थलों में एकवचन प्रयोग ही अधिक अच्छा रहता है; समष्टि-बोध कराने के लिए। 'अंग्रेज लोग कभी भी अपने देशका हित पीछे न करेंगे' कि अपेक्षा अंग्रेज कभी भी अपने देश का हित पीछे न करेगा, कैसा रहेगा? किसमें अधिक बल है? यह लेखन-कला की बात है विस्तार से कहीं अन्यत्र समझाया जायगा।

'राजनीतिक' और 'राजनैतिक' के शब्द-भेद पर हमें जो कुछ कहना था, अपनी 'लेखन-कला' में कह दिया हैं।

७—"भाषा बहुत से शब्दों से बनती है और उन शब्दों के कुछ अर्थ होते हैं।"

जसे—'बाग बहुत से वृक्षों से बनता है और उन वृक्षों में फल-फूल होते है।' वृक्ष लग गये, फिर उनमें फल-फूल भी आये! इसी तरह भाषा शब्दों से बन गयीं, फिर उन शब्दों के अर्थ होते है! 'अच्छी' हिन्दी रही न?

हम लोग यों लिखते हैं:—

'बहुत से सार्थक शब्दों से भाषा बनती है।' इससे भी

अच्छा यह—'सार्थक शब्दों का समूह ही भाषा है।' जो पसन्द पड़े, उसे स्वीकार कीजिए।

८—"सीखते भी हम पहले बोलना और सुनना ही हैं।"

क्रम कितना सुन्दर है? पहले हम बोलना सीखते हैं, फिर सुनना सीखते हैं। 'सुनना' भी सीखना पड़ता है। अपने आप 'सुनना' नहीं आ जाता है! 'सुनना' न लिखा जाता, तो 'अच्छी हिन्दी' न रहती!

९—"हम प्रायः कुछ न कुछ सोचते या कुछ न कुछ करते ही रहते हैं।"

'कुछ न कुछ' की पुनरुक्ति 'अच्छी' हिन्दी बनाने के लिये है। लोग कुछ न कुछ करते ही रहते हैं और करते नहीं, तो सोचते तो जरूर ही रहते हैं। इस क्रमसे 'करते या सोचते' रहते हैं, कहना था। 'प्रायः' की जगह 'सदा ही' ठीक रहता। साधारण हिन्दी ऐसी ही होती है, जैसी मैं बता रहा हूं। वर्माजी ने 'अच्छी हिन्दी' का स्वरूप प्रदर्शित किया है!

१०—साधारण-शिक्षा का हमारे लिए कम से कम इतना उपयोग तो होना ही चाहिए कि हम अपनी बातें ठीक तरह से दूसरे को समझा सकें।"

यहां 'कम से कम' व्यर्थ है, 'इतना तो' से मतलब पूरा हो जाता है 'बातें' बहुवचन कैसा रहा? हमारी समझमें तो 'बात' एकवचन ठीक रहता। मतलब यह निकलता कि हम अपनी प्रत्येक बात समझा सकें। बहुवचन में यह बात नहीं, समझ कर देखिये।

११—"हम भाषा के द्वारा दूसरों पर अपनी इच्छाएँ या आवश्यकताएँ, दु.ख या प्रसन्नता, क्रोध या सन्तोष प्रकट करते है और इस प्रकार के और भी बहुत से काम करते हैं।"

और भी बहुत से काम भाषा के द्वारा हम करते हैं—रोटी खाते हैं, कुर्सी बनाते हैं, चने भूनते हैं, इत्यादि ! नहीं, तो मतलब शायद यह होगा कि इसी तरहकी और बातें प्रकट करते हैं। यदि ऐसा था, तब 'सन्तोष' के बाद आदि शब्द दे देना चाहिये था और बस ! 'और बहुत से काम करते हैं, लिखने से तो कोई वर्माजी से पूछ सकता है कि वे 'और काम' कौन से हैं ?

'इच्छाए' और 'आवश्यकताए' में बहुवचन बहुत जरूरी है। एकवचन से काम न चलता ! इसीलिए दो 'एँ' और जोड़नी पड़ीं। 'दुःख या प्रसन्नता' कैसे मेल के शब्द हैं ? 'सुख-दुख' ठीक न रहता' क्योंकि वर्माजी काशी में रहते हैं, संस्कृत के गढ़में ! वहाँ 'दुःख' यह तत्सम प्रयोग ही होता है, 'दुख' तद्भव नहीं। और 'सुख-दुःख' या 'दुःख-सुख' कुछ जमता नहीं ! इसीलिए दुःख के साथ 'प्रसन्नता' बाँध दी है।' क्रोध, का उलटा 'सन्तोष' है ही ! 'सन्तोष या असन्तोष' नहीं लिखा जा सकता था। वैसा लिखने से कोई वर्माजी में शब्द-दारिद्र्य अनुभव कर सकता था ! लोग कहते, वर्माजी के पास शब्दों की कमी है; इसीलिये 'सन्तोष' के विरुद्ध 'अलग कर' उसी शब्द से प्रतिद्वन्द्वी 'असंतोष' बना कर लिख दिया ! 'सन्तोष की या असन्तोष' को अपेक्षा 'क्रोध या सन्तोष' बोलने में भी अच्छे लगते हैं ! यही 'अच्छी' हिन्दी है ! 'क्रोध या शान्ति' लिखने से मेल बिगड़ जाता—'मेल-फीमेल' का क्या मेल ?

१२—"भाषा से निकलने वाले इसी प्रकार के और भी बहुत से कार्य होते और हो सकते हैं।"

इस वाक्य में 'होते' की बड़ी जरूरत थी। इसीलिये भद्दा लगने पर भी, वर्माजी ने इसका आदर किया है।

१३—"भाषा ही लोगों को कुमार्ग से हटा कर सन्मार्ग पर लाती है और पाप से विमुख करा के पुण्य कार्यों में लगाती है।"

मतलब यह है कि भाषा के ही द्वारा किसी को कुमार्ग से हटा-कर (सुमार्ग न सही) सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। यही नहीं, बल्कि पाप से विमुख करा के पुण्य कार्यों में भी उसे लगाया जा सकता है!

भाषा ही लोगों को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर लगाती है। यह नहीं कि भाषा के द्वारा ही मनुष्य सुमार्ग या कुमार्ग के लिये प्रेरित किया जा सकता हो। जितनी रसीली कहानियाँ छप रही हैं, सब युवक-युवतियोंको सुमार्ग पर ही तो ले जाती हैं! भाषा का काम ही सुमार्ग पर ले जाना है! भाषा का यह महत्त्व वर्माजी ने खूब प्रदर्शित किया है।

१४—"आज-कल के पाश्चात्य राजनीतिज्ञों के सम्बन्ध में तो यह बात प्रसिद्ध-सी हो रही है कि वे भाषा का उपयोग अपने मनके भाव प्रकट करने की अपेक्षा अधिकतर उन्हें छिपाने के लिए ही करते हैं।"

वाक्य में 'सी' ध्यान देने योग्य है। 'बात प्रसिद्ध ही है' की अपेक्षा 'प्रसिद्ध-सी हो रही है' में कितना जोर आ गया है! और, केवल पाश्चात्य राजनीतिज्ञ, सो भी आज-कल के ही, मन के

भाव छिपाने के लिये वैसी भाषा का प्रयोग करते हैं! और कहीं के राजनीतिज्ञ वैसा नहीं करते। राजनीति तो वही है, जिसमें 'सत्य' हो। अपने देशके चाणक्य आदि कुछ अच्छे राजनीतिज्ञ थोड़े ही थे! वैसे ही आज-कल पाश्चात्य देशों में हैं।

और, राजनीतिज्ञों के अतिरिक्त अन्य कोई तो वैसी भाषा का प्रयोग करता ही नहीं है! कविता में वैसे भाव-गूहन आते हैं; पर वह भी एक प्रकार की राजनीति ही समझिए, जो पाश्चात्यों से प्रभावित है। कालिदास और तुलसीदास आदि पर जरूर पाश्चात्य राजनीतिज्ञों का प्रभाव पड़ा होगा, अन्यथा वे पात्र विशेष के मुख से वैसी भाषाका प्रयोग कैसे कराते? इससे यह भी निष्कर्ष निकला कि उस युगमें भी पाश्चात्य राजनीतिज्ञ वैसे ही थे, जैसे आज-कल हैं।

१५—"जो हो, अच्छी भाषा लोगों पर हमारी योग्यता प्रकट करती है, समाज में हमारा सम्मान बढ़ाती है और हमारे बहुतसे कठिन काम सहज में पूरे कराती है।"

ऊपर जो कुछ लिखा हैं, यों चाहिए—

"सार यह कि अच्छी भाषा लोगों पर वक्ता या लेखक की योग्यता प्रकट करती है, समाज में उसका सम्मान बढ़ाती है और उसके कठिन काम भी अनायास बना देती है।"

'हमारी' 'हमारा' और 'हमारे' यों तीन बार एक ही शब्द लाना ठीक नहीं और सर्वनाम का परामर्श दूसरे सर्वनाम से हो नहीं सकता। इसलिये, पहले 'हमारी' को हटा कर 'वक्ता या लेखक' कीजिए। इसके बाद 'वह' सर्वनाम से परामर्श। एक बात

और। यह 'अच्छी हिन्दी' है। लोग यह न समझ लें कि 'हमारी' का मतलब 'श्री रामचन्द्र वर्मा की' है। ग्रन्थकर्त्ता अपने लिये बहुवचन का प्रयोग करते भी हैं। यानी, कोई अच्छी हिन्दी लिखेगा, तो हमारी योग्यता प्रकट होगी—लोग कहेंगे कि वर्माजी की पुस्तक पढ़ कर इसने अच्छी हिन्दी लिखना सीख लिया! ऐसा अर्थ भी अल्पमति लोग लगा सकते हैं, जो वर्माजी को अभीष्ट नहीं। इसलिये 'हमारी' की जगह 'वक्ता या लेखक' ही ठीक रहेगा।

वाक्य में 'बहुत से' पद अनावश्यक हैं। इससे जोर भी कम हो जाता है। एक 'भी' चाहिए, 'काम' के आगे। 'सहज' का प्रयोग 'सरल' के अर्थ में भूल से होने लगा है। 'यह काम तो मेरे लिये बहुत सहज है' इत्यादि! वैसे 'सहज' का अर्थ है साथ-साथ उत्पन्न—'काम-क्रोध प्राणी के सहज शत्रु हैं।' पहले 'सहज' को 'सरल' के अर्थ में उर्दू वालों ने चलाया। फिर हिन्दी में भी लोग लिखने लगे। परन्तु 'अच्छी हिन्दी' में तो न चाहिए! 'सहज' में, यानी 'सरलता' से।

और 'कराती है' क्या है? किससे कराती है? जब सम्मान बढ़ाती है, तब काम भी पूरे करती है। 'कराती है' क्यों? शायद 'बढ़ाती है—कराती है' यों 'आती है' का अन्त्यानुप्रास वर्माजी ने दिया है।

१६—"हम समझ लेते हैं कि इन्हें बोलना या लिखना तक नहीं आता।"

बोलना तो दूर, लिखना तक नहीं आता ! ऊपर जिस क्रम से बोलने और लिखनेका प्रयोग है, उससे यही ध्वनित होता है। यानी, लिखना तो मामूली बात है, बोलना कठिन है। परन्तु शर्माजी का मतलब यह नहीं है। जो मतलब इस क्रम-निर्देश से निकल सकता है, वह उन्हें अभीष्ट नहीं। यदि ऐसा है, तो 'लिखना या बोलना' होना चाहिए। वे 'लिखना' सिखा रहे हैं, 'वक्तृत्व-कला' नहीं।

१७—"यदि कोई साधारण व्यक्ति भी सामान्य-सी ही बात कहे, परन्तु कहे अच्छी और प्रसादपूर्ण भाषा में, तो वह बात तुरन्त हमारे मन में बैठ जाती है और हम अनजान में ही उस का कुछ विशेष आदर करने लगते हैं।"

यहाँ 'सामान्य-सी ही' की जगह 'सामान्य भी' चाहिए। 'अच्छी' और 'प्रसादपूर्ण' का क्रम बदलना चाहिए। प्रसादपूर्ण भाषा ही अच्छी होती है; इसलिये 'प्रसादपूर्ण और अच्छी भाषा' होना चाहिए। अच्छी भाषा बनाने में प्रसादपूर्णता के अतिरिक्त और भी कुछ चाहिए, यह अलग बात है। प्रसादपूर्णता मुख्य हेतु है, जिसका निर्देश किया गया है। इसलिये, हेतुका प्रयोग पहले चाहिए। 'तो वह बात' में 'बात' व्यर्थ है। 'वह' से ही मतलब आ जाता है। 'कहे' के साथ 'बैठ जाती है' ठीक नहीं। 'बैठ जायगी' चाहिए। 'अनजान में ही' मुहाविरा गलत है। 'अनजाने' चाहिए। 'विशेष आदर करने लगते हैं' इतना ही ठीक है। इसके साथ 'कुछ' लगा देने से बल कम हो गया है। 'कुछ' और 'विशेष' यहाँ एक साथ कैसे लगते हैं?

१८—"अब यह बात दूसरी है कि थोड़े शब्दों वाली भाषा या बोली में उतने अधिक भाव न व्यक्त किये जा सकते हों, जितने किसी शब्द-सम्पन्न भाषा या बोली में।"

'जा सकते हो' में प्रक्रिया-गौरव है और सन्दिग्धता भी। 'जा सकें' चाहिए।

आगे—

"असभ्य और जंगली जातियों की बोली प्रायः ऐसी ही होती है। उस में शब्द भी कम होते हैं और अशुद्धियों के लिए अवकाश भी कम रहता है।"

यहाँ 'बोली' एकवचन प्रयोग ठीक नहीं। प्रत्येक जङ्गली जाति की बोली अलग है; प्रत्युत एक ही जाति में बहुत-सी बोलियाँ प्रचलित होती हैं। इसलिए 'बोली' की जगह 'बोलियाँ' चाहिए। अन्यथा, लोग समझ सकते हैं कि सभी जङ्गली जातियों की बोली एक ही होगी।

"थोड़े से विशेषण, थोड़ी सी संज्ञाएँ, थोड़ी सी क्रियाएँ भाषा के नियम-भंग के लिए अधिक स्थान नहीं छोड़तीं।"

संज्ञाओं और क्रियाओं के ही विशेषण होते हैं। इनका स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता। इसलिए 'थोड़ी-सी संज्ञाएँ और क्रियाएँ, थोड़े-से इनके विशेषण' ऐसा चाहिए।

१९—"भाषा जब तक सजीव रहती है और बराबर उन्नति करती चलती है, तब तक बेचारा निर्जीव व्याकरण दौड़ में उसका साथ नहीं दे सकता।"

यानी चालू भाषा का व्याकरण नहीं बन सकता ! जब भाषा मर जाती है, तभी उसका व्याकरण बनता है ! भाषा सजीव होती है, व्याकरण निर्जीव होता है ! जबतक गंगा की धारा सजीव होती है, और बराबर आगे दौड़ रही है, तबतक उसका स्वरूप-वर्णन हो नहीं सकता ! सजीव नदीका निर्जीव वर्णन क्या ! जितने भी वर्णन होंगे, सब बेचारे निर्जीव होंगे !

२०—'जो समाज बराबर उन्नति करता और आगे बढ़ता रहता है, उसकी भाषा भी बराबर उसके साथ आगे-आगे दौड़ती चलती है और व्याकरण उसके पीछे-पीछे लँगड़ाता और घसिटता हुआ चलता है ।"

'साथ' और 'आगे-आगे' एक साथ देखिए ! आगे फिर देखिए—

"जब भाषा बहुत कुछ आगे बढ़ चुकती है, तब वैय्याकरण भी उसके पास तक पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं । यह व्याकरण वह दूसरा तत्व है, जो भाषा को सुन्दर बनानेमें सहायक होता है ।"

पहले कहा कि व्याकरण भाषा के पीछे-पीछे चलता है, भले ही लँगड़ाता हुआ ! परन्तु फिर शायद कहीं छूट गया ! तभी तो कहा है कि 'जब भाषा बहुत दूर आगे बढ़ चुकती है, तब वैय्याकरण अपना व्याकरण भी उसके पास तक पहुंचाता है !' यह 'व्याकरण' क्या चीज है, जिसे भाषा के पास पहुंचाया जाता है ? और यह बेचारा निर्जीव लँगड़ाता व्याकरण 'भाषा को सुन्दर बनाने में सहायक' कैसे हो जाता है ? वर्माजी व्याघात-दोषमें डुबकियाँ ले रहे हैं ! आपको पता ही नही कि व्याकरण है क्या !

व्याकरण से भाषा में सौन्दर्य बढ़ता है, जैसे भूगोल-विद्या से नदी और पर्वतों की शोभा बढ़ जाती है, जिनका वर्णन उसमें होता है !

'तत्व' तो वर्माजी ने पुस्तक भर में इसी तरह लिखा है। जब कि 'मनुष्यत्व' आदि में 'त्व' है, तब 'तत्त्व' में भी वैसा ही होगा ! जो लोग 'तत्त्व' लिखते हैं, वे गलती करते हैं। संस्कृत में 'तत्' शब्द और उससे 'त्व' प्रत्यय, तब 'तत्त्व' बनाना-समझना झगड़े की बात है ! हिन्दी में 'तत्व' चलेगा, विशेषतः 'अच्छी हिन्दी' में ! काशीवासियों का हुक्म हिन्दी-संसार को मानना ही होगा !

२१—"जो व्यक्ति जिस विषय में जितना ही अधिक प्रयत्न करता है, वह उस विषय में यदि उतना ही नहीं तो बहुत कुछ सौन्दर्य और सरसता अवश्य ला सकता है।"

समझे ? एक सेनापति या सिपाही जितना ही अधिक प्रयत्न युद्ध-क्षेत्र में करेगा, वह उस (युद्धक्षेत्र) में उतना ही सौन्दर्य और माधुर्य्य पैदा कर सकेगा ! 'वह उस विषय में उतना ही सफल होगा', कह दिया जाता, तो बात बिगड़ जाती। वह 'सौन्दर्य्य' फिर कहाँ से आता ?'

'करता है' के साथ 'ला सकता है' कितना अच्छा लगता है ? यदि 'ले आता है' लिखा जाता, तो शायद जोर कम हो जाता। 'जो प्रयत्न करता है, सौन्दर्य्य ला सकता है, इसमें सफलता संदिग्ध है और 'ले आता है' में निश्चित। परन्तु सफलता निश्चित है, यह बात वर्माजी को अभीष्ट नहीं ; इसीलिए 'ला सकता है' लिखा !

'सरसता' के आगे 'ला सकता है' भी बहुत ठीक रहा ! 'सौन्दर्य्य' और 'सरसता' का मेल भी अच्छा है—एक हिन्दी का

पुल्लिंग शब्द, दूसरा स्त्री-लिंग ! यदि 'सौन्दर्य्य तथा माधुर्य्य' कर दिया जाता, तो हिन्दी 'अच्छी' न रहती। 'प्रक्रम-भंग' दोष साहित्य शास्त्र में है जरूर; पर वे सब पचड़ेकी बातें हैं !

जो जिस विषय में जितना प्रयत्न करता है, वह उतना ही कृतकार्य होता है। परन्तु वर्माजी जरा ब्रेक लगा रहे हैं—'वह उस विषय में यदि उतना नहीं तो' ! 'उतना' क्यों नहीं ? दुर्भाग्य सामने आ जाय, तो ? इसीलिए वह ब्रेक है !

२२—"यदि हम अपनी भाषा को निर्दोष, सुन्दर, ओजपूर्ण, प्रसादयुक्त और प्रभावशालिनी बनाने का ठीक तरह से प्रयत्न करें, तो हमें सहज में बहुत कुछ सफलता हो सकती है।"

निर्दोष, सुन्दर, ओजपूर्ण और प्रसादयुक्त शब्दों के साथ 'प्रभावशालिनी' कैसा मजे का रहा ? 'हमें सफलता हो सकती है' तो बहुत ही बढ़िया प्रयोग है। लोग समझते हैं कि ऐसे स्थलों में 'हमें सफलता मिल सकती है' इत्यादि सकर्मक क्रिया के ही प्रयोग हिन्दी में होते हैं। परन्तु यहाँ साधारण हिन्दी की तो चर्चा ही नहीं, अच्छी हिन्दी का नमूना दिया जा रहा है और इसीलिए 'हमें सफलता हो सकती है'—यह अकर्मक प्रयोग है।

"आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि छोटी-छोटी बातों पर भी जरा सूक्ष्म-दृष्टि से विचार किया जाय।"

'छोटी से छोटी बातपर भी' ऐसा साधारण लोग लिखते हैं। अच्छी हिन्दी में उसके बदले 'छोटी-छोटी बातों पर भी' चलेगा।

'सूक्ष्म दृष्टि' से पहले 'जरा' कितना जरूरी है, इसे सब लोग नहीं समझ सकते ! [ऐसी बातें समझने के लिए 'अभ्यास' चाहिए !]

इससे अगली पंक्ति—

"जहाँ एक बार आप इस मार्ग पर चल पड़े, वहाँ बाकी काम बहुत-कुछ आप-से-आप होने लगते हैं।"

साधारण हिन्दी में लोग यों लिखते हैं—

"जहाँ एक बार आप इस मार्ग पर चल पड़े कि बहुत कुछ काम आपसे आप होने लगेंगे।"

वर्माजी भाषा के मर्मज्ञ हैं। वे जानते हैं कि 'जहाँ' के साथ जब तक 'वहाँ' न हो, वाक्य सुन्दर न होगा! 'चल पड़े' के साथ 'होने लगते हैं' प्रयोग भी सुन्दर है। वैसे लोग लिखा करते हैं—

१—"वर्षा हुई कि खेत में नाज ऊपर आना शुरू हुआ"

२—"वर्षा हुई कि खेत में नाज ऊपर आना शुरू हो जायगा" (भविष्यत्)।

पहले वाक्य में 'हुई' और 'हुआ' का प्रयोग भविष्यत् में ही है। भविष्यत् को अति निकट बतलाने के लिए ऐसे प्रयोग होते हैं। वर्माजी इन प्रयोगों को गलत समझते हैं और इसीलिए 'शुरू हुआ' हटाकर 'शुरू होने लगेगा' यों शुद्ध भविष्यत् लिखते हैं। परन्तु 'मार्ग पर चल पड़े' यह प्रयोग भी तो भविष्यत् के अर्थ में है! सो, यह कोई बात नहीं। 'होने लगते हैं' को ठीक कर दिया है; आगे 'चल पड़े' भी ठीक हो जायगा। ऊपर का दूसरा वाक्य वर्माजी यों लिखेंगे—

'वर्षा हुई कि खेत में नाज ऊपर आना शुरू हो जाता है'। ऐसा प्रयोग भाषा को ओजपूर्ण (जोरदार) बनाने के लिए है। तीनों तरह के वाक्य एक साथ रख कर देखिए, जोर कहाँ है?—

१—वर्षा हुई कि खेत में नाज ऊपर आया।

२—वर्षा हुई कि खेत में नाज ऊपर आना शुरू हो जायगा।

३—वर्षा हुई कि खेत में नाज ऊपर आना शुरू हो जाता है।

तीसरा वाक्य वर्मा-सम्प्रदाय का है। हाँ, उसमें 'जहाँ' और 'वहाँ' और लगा दीजिए। पूरा वाक्य यों होगा—

"जहाँ वर्षा हुई, वहाँ खेत में नाज ऊपर आना शुरू हो जाता है।"

कितना चुस्त और गठीला वाक्य बन गया? जोर कितना बढ़ गया है!

२४—'यदि आप स्वयं अपनी भाषा पर भी और दूसरों की भाषा पर

भी आज से ही ध्यान देना आरम्भ कर दें, तो बहुत सम्भव है कि एकाध महीने के अन्दर ही भाषा को सुन्दर और शुद्ध बनाने वाले बहुत-से तत्त्व आप से-आप आप के सामने आने लग जायँ।"

'अपनी भाषा पर भी' और 'दूसरों की भाषा पर भी' यों दो बार 'भी' लाना जरूरी है, 'अच्छी' हिन्दीमें। साधारण लोग यों लिखेंगे—

१—अपनी भाषा पर, और दूसरों की भाषा पर भी...

२—अपनी—और दूसरों की भी—भाषा पर......

परन्तु ये सब घिसे-घिसाये प्रयोग हैं। वाक्य में एक 'भी' भद्दी लगती है! इसीलिये दो 'भी भी' जमायी गयी हैं। शायद मधुरता लाने के लिये! भ, घ, ढ, ध ये शब्द वर्माजी की दृष्टि में बहुत मधुर हैं शायद। भेड़ 'में' करे, तो उतना मिठास नहीं।

जब 'में में' करती है, तभी अच्छा लगता है। इसीलिए वाक्यमें दो बार 'भी' का प्रयोग हुआ है। साथ ही 'अन्दर' शब्द पर ध्यान दीजिए। मणि-सा जगमगा रहा है!

आगे—

"पर यदि आप उन्हीं छोटी-से-छोटी बातों को तुच्छ समझ कर छोड़ते चलने के अभ्यस्त हो जायँगे, तो फिर आप की भाषा में बराबर कुछ न कुछ दोष बढ़ते ही चले जायँगे।"

'छोटी से छोटी बात' मेरे-जैसे लोग लिखते हैं; क्योंकि सब से छोटी बात तो एक ही होगी न? उसे भी तुच्छ मत समझो। वर्माजी बहुवचन देते हैं, जोर लानेके लिये। 'कुछ न कुछ' वाक्यमें अत्यन्त आवश्यक समझकर रखा गया है। इसे हटा दो, तो वाक्य बिगड़ जायगा!

इसीके आगे—

"विशेषतः बच्चों की भाषा पर तो हमें और भी अधिक ध्यान देना चाहिए।"

'पर', 'तो' तथा 'और भी अधिक'से काम चलता न दिखायी दिया; इसलिये 'विशेषतः'का प्रयोग है। और भी—

"बच्चे जिस तरह और सब बातों में भूलें करते हैं; उसी तरह बोलने में भी भूलें करते हैं।"

'जिस तरह'के मुकाबलेमें 'उसी तरह' देना आवश्यक था। इसीलिये वाक्य-भेद। 'भूलें भूलें' दो बार! कितनी भली मालूम देती हैं, ये भूलें! हम लोग साधारण हिन्दीमें इस तरह लिखते हैं—

'बच्चे और बातों की तरह बोलने में भी भूलें करते हैं।' परन्तु 'भूलें' का लाटानुप्रास न आने से मजा बिगड़ गया! वर्माजी ने अच्छी हिन्दी में इस कमजोरी को दूर कर दिया है।

'भ' अक्षर वर्माजी को बहुत प्रिय है। अगले वाक्य की छटा देखिए—

"उस समय यदि उनका ध्यान उन भूलों की ओर दिलाया जाय और उन्हें सचेत कर दिया जाय, तो थोड़े ही समय में वे भी भाषा का अच्छापन बहुत कुछ समझने लगेंगे।"

भाषामें अच्छापन लानेके लिये ही 'वे' के साथ 'भी' का प्रयोग है।

२५—"लेखों और रचनाओं आदिमें सबसे पहली और मुख्य चीज़ है—
विचार या भाव।"

'विचार' जरा कठिन शब्द है; इसलिए खुलासा कर दिया गया—'भाव'। 'लेख' कोई रचना नहीं हैं; इसलिए अलग निर्देश किया गया। 'रचनाओं आदि' में 'आदि' शब्द से इन चीजों का शायद ग्रहण है—वैज्ञानिक की प्रयोगशाला, चित्रकार की चित्र-शाला, व्यापारी की दूकान, मजदूर की कुटिया आदि। कारण, सर्वत्र विचार या भाव रहते हैं! सो, लेख में और रचना आदि में विचार या भाव मुख्य हैं। यह मतलब निकला। 'लेखों' और 'रचनाओं'! वे बहुत हैं न? 'रचनाओं आदि' देखिए। वर्माजी ने लिखा है—"विचार या भाव हमारे मन में स्पष्ट होने चाहिएँ।" यहाँ 'चाहिएँ' बहुवचन व्याकरण का ध्यान करके वर्माजी ने दिया है। परन्तु इस पर कुछ विचार करना है।

'चाहिए' क्रिया शायद भाव-वाच्य है, और इसमें लिङ्गभेद या वचन-भेद नहीं होता—

हमें रोटी चाहिए, तुझे कपड़ा चाहिए, राम को कपड़े चाहिए, इत्यादि।

परन्तु वर्माजी ने इसे शायद दूसरी तरह समझा है। उनकी उपपत्ति हमें मालूम नहीं।

२६—"पहले किसी विषयका मनन और अध्ययन करना चाहिए।"

साधारण जन पहले अध्ययन करते हैं और तब उस पर मनन करते हैं। वर्माजी पहले मनन करते हैं, तब अध्ययन! ऐसा नहीं, तो फिर वाक्य को सुन्दर बनाने के लिए क्रम बदल दिया होगा। वैसे सब जगह 'श्रवण-मनन' ही सुनने में आता है। परन्तु जिन्हें, 'अच्छी' हिन्दी लिखनी हो, वे वर्माजी के मार्ग पर 'मनन-श्रवण' अपनायेंगे। 'शायर' वही, जो 'लीक' को छोड़ कर चले, नया क्रम जारी करे! अगला वाक्य यों है—

"यदि आप में सामर्थ्य हो, तो आप अनेक विषयों का साथ-साथ अध्ययन कर सकते हैं।"

इसमें 'आप' शब्द का दो बार प्रयोग लाटानुप्रास की सुन्दरता लाने के लिए है। मामूली काम चलाऊ हिन्दी यों होगी—'यदि सामर्थ्य हो, तो आप अनेक विषयों का साथ-साथ अध्ययन कर सकते हैं।' परन्तु वर्माजी व्याकरण का बहुत ज्यादा ध्यान रखते हैं, यद्यपि वह 'लँगड़ाता हुआ' 'घसिटता' चलता है। उन्होंने समझा—'सामर्थ्य हो' से आकांक्षा रह जायगी! किस का सामर्थ्य? इस भेद को खोलने के लिए 'आप'

का प्रयोग जरूरी है। 'यदि आप में सामर्थ्य हो, तो अनेक विषयों का साथ-साथ अध्ययन कर सकते हैं' ऐसा प्रयोग भी वर्माजी ठीक नहीं समझते। 'कर सकते हैं' का कर्ता पाठक कहाँ ढूँढ़ता फिरेगा? सन्दिग्ध भाषा अच्छी नहीं होती। इसीलिए 'आप कर सकते हैं' ठीक है। सारांश यह कि 'आप' का दो बार प्रयोग 'अच्छी' हिन्दी में ऐसी जगह चाहिए।

२७—"लिखनेके लिए सबसे अधिक उपयुक्त समय वही होता है, जब मन सब प्रकारकी चिन्ताओं और विकलताओं आदिसे मुक्त तथा सब प्रकारसे निश्चिन्त हो।"

यानी 'चिन्ताओं से मुक्त' भी हो और 'निश्चिन्त' भी हो! वर्माजी यहाँ दो बार 'भी' का प्रयोग अच्छा समझेंगे, या नहीं, कहा नहीं जा सकता! हाँ, 'चिन्ता से मुक्त' और 'निश्चिन्त' में जो सूक्ष्म भेद है उसे वे 'हिन्दी-शब्द-सागर' के अगले संस्करण में शायद स्पष्ट कर देंगे। विकलताओं से मन पर कोई वैसा असर नहीं पड़ता; इसलिए 'चिन्ताओं' से अलग समझें।

२८—"मधुमक्खियाँ मकरन्द संग्रह करने के लिए कोसों के चक्कर लगाती हैं और अच्छे-अच्छे फूलों पर बैठ कर उनके रस लेती हैं।"

वर्माजी व्याकरण का बड़ा ध्यान रखते हैं। हम लोग 'चक्कर' तथा 'रस' का प्रयोग साधारणतः एकवचन में ही करते है—कोसों का चक्कर लगाती हैं, उनका रस लेती हैं, इत्यादि। वर्माजी बहुवचन देते हैं। हम लोग समझते हैं कि दूध, पानी, तेल, रस आदि पदार्थों का तथा 'चक्कर' आदि संज्ञाओं का प्रयोग एकवचन मेंही होता है—

(क) हम गौ, भैंस तथा बकरी का दूध पीते हैं।

(ख) इन सब कुओं का पानी मीठा है।

(ग) तिल, सरसों तथा अलसी से तेल निकलता है।

(घ) गन्ने से तथा फलों से रस निकलता है।

(ङ) समय का और भाग्य का चक्कर चलता ही रहता है।

वर्माजी कहते हैं कि बहुतों से सम्बन्ध रखने के कारण यहाँ सर्वत्र बहुत्व है और दूध आदि भिन्न-भिन्न भी हैं; इसलिए शुद्ध व्याकरण-सम्मत प्रयोग यों उचित हैं:—

(क) हम गौ, भैंस तथा बकरी के दूध पीते हैं।

(ख) सब कुओं के पानी मीठे हैं।

(ग) तिल, सरसों तथा अलसी से तेल निकलते हैं।

(घ) गन्ने से तथा फलों से रस निकलते हैं।

(ङ) समय के और भाग्य के चक्कर चलते ही रहते हैं!

हम बोलेंगे 'धूल उड़ती है' और वर्माजी कहेंगे—'धूलें उड़ती हैं। जैसे 'भूलें' वैसे ही 'धूलें'। हम लोगों का ख्याल है कि जिस चीज की गिनती नहीं होती, उसका प्रयोग प्रायः एकवचन में होता है। वर्माजी इसे हम लोगों की गलती समझते हैं!

२६—"आप उन सब बातों और विचारों आदिको अलग-अलग विषय-विभागोंमें विभक्त कर दें।"

साधारण हिन्दी में यों लिखा जाता है—

(क) आप उन सब बातों और विचारों को विषय-क्रम से विभक्त कर दें।

(ख) आप उन विषयों को अलग-अगल विभक्त कर दें।

(ग) आप उन विषयों के अलग-अलग विभाग कर दें।

'विषय' में 'बात' और विचार आदि सब कुछ आ जाता है। वर्माजी ने 'बात' और 'विचार' अलग-अलग करके विच्छित्ति पैदा कर दी है और 'विभागों में विभक्त' करके तो सोने में सुगन्ध पैदा कर दी है। जिसके विभाग पहले से ही हों, उसे भी विभक्त किया जा सकता है, उन्हीं विभागों में!

३०—"यदि आप आज़ हो लिखें और आज ही उसे फिर से देखने बैठ जायँ, तो उसमें के सब दोष आपके सामने न आ सकेंगे।"

वर्माजी ने जिस दिन ये पंक्तियाँ लिखी होंगी, उसी दिन इन्हें फिर से देख लिया होगा। इसी लिए उन्हें 'उसमें के' ठीक जँचा। कुछ दिन बाद देखते, तो जरूर समझ जाते कि 'उसमें के' नहीं, 'उसके' ठीक है।

३१—"रचनामें जिस प्रकार भावोंके सौन्दर्य्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शब्द योजनाकी सुन्दरता की भी।"

एक ही वाक्य में एकत्र 'सौन्दर्य' और अपरत्र 'सुन्दरता' इस लिए है कि कोई लेखक में तद्धित-दरिद्रता न समझ ले। वे 'सौन्दर्य' ही नहीं, 'सुन्दरता' बनाना भी जानते हैं। सम्भव है, पुनरुक्ति दोष दूर करने के लिए यह भेद हो। परन्तु पुनरुक्ति—शब्द-पुनरुक्ति—तो बनी ही रही। उसे दूर करने के लिए वाक्य यों चाहिए—"रचना में भावों की तरह शब्द-योजना का सौन्दर्य भी आवश्यक है।'

एक बात नयी मालूम हुई। हम लोग समझते थे कि रचना

में भाव प्रकट करने का ढँग सुन्दर होना चाहिए, भाव चाहे-जैसा हो। कवियों ने मन्थरा का फूहड़पन और रावण के मदातिरेक आदि का सुन्दर वर्णन किया है। वे सुन्दर रचनाएँ अमर हैं। वर्माजी कहते हैं कि रचना में 'सुन्दर भाव' ही चाहिए। आप लिख दें—'दया रखनी चाहिए', बस, उत्तम रचना हो गयी। 'दया' कितना सुन्दर भाव है। इसके अतिरिक्त किसी दुष्ट के दूषित भाव—क्रूरता, लिप्सा, ईर्ष्या आदि—का चाहे जितना सुन्दर वर्णन आप करें, रचना अच्छी न कही जायगी। रचना-निरूपण में वर्माजी का यह मत क्रान्तिकारी है!

३२—"कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिन्हें बहुत थोड़े-से शब्दोंका ज्ञान होता है और जो मौके-बे-मौके सब जगह उन्हीं शब्दोंका प्रयोग करते रहते हैं।"

'कुछ लोग ऐसे भी होते हैं' कितना सुन्दर प्रयोग है! साधारण लोग लिखते—"कुछ लोग थोड़े-से शब्दों का ही ज्ञान रखते हैं और उन्हें ही मौके-बे-मौके सब जगह चिपकाते फिरते रहते हैं!" वर्माजी ने 'बहुत' के साथ 'थोड़े' को रख कर फिर उसके आगे जो 'से' जड़ दिया है, सो तो एकदम जगमगा उठा है। 'थोड़े-बहुत' और लोग लिखते हैं। कुछ लोग 'बिलकुल थोड़े' लिखते हैं। 'बहुत थोड़े' भी लिखा ही जाता है! और 'थोड़े-से' भी चालू है। परन्तु 'बहुत थोड़े-से' एक नये ढँग का आकर्षक प्रयोग है। उन्हीं थोड़े से शब्दों का मौके-बेमौके वे लोग सर्वत्र 'प्रयोग' करते हैं—यानी बहुत अच्छी तरह फिट बैठा देते हैं। जैसे, किसी कारीगर के पास साधनों की कमी हो;

पर वह उन्हीं से सब जगह काम अच्छी तरह चला ले! तो, इससे तो उसकी तारीफ ही की जायगी न?

'प्रयोग' शब्द का प्रयोग साधारणतया बहुत अच्छे अर्थों में होता है। वर्मा जी सब को ऊँचा उठाना चाहते हैं; इस लिए वैसे लोगों की उस बेजा जोड़-गाँठ को भी आपने 'प्रयोग' ही बतलाया है! वैसे निन्दा की है। निन्दा करते भी प्रशंसा हो जाय, यही तो भाषा की विशेषता है!

३३—"दोनों ही प्रकारके लेखक" वस्तुतः एक ही कोटिमें रखे जानेके योग्य हैं।"

'दोनों' शब्द का प्रयोग वर्माजी ने सर्वत्र सानुस्वार ही किया है। हम लोग लिखते हैं—'दोनो'। कारण, समष्टि-सूचन के लिए 'ओ' प्रत्यय होता है, 'ओं' नहीं! 'चारो प्रकार' होता है, 'चारों प्रकार' नहीं। 'छहो रस विद्यमान हैं' देखा जाता है, 'छहों रस' नहीं। वस्तुतः 'न' स्वयं सानुनासिक है और उसके उच्चारण से मेल मिला कर वर्माजी ने ऊपर अनुस्वार और जड़ दिया है। हर्ज क्या है? कुछ बढ़ाया ही है, घटाया तो नहीं?

'वस्तुतः' भी मजे का रहा। सचमुच एक ही कोटि में 'रखे जाने के योग्य हैं'! 'वस्तुतः' न होता, तो वाक्य ढीला पड़ जाता, जोर न आता!

'रखे जाने के योग्य' लिख कर वर्माजी ने व्याकरण समझाया है। वैसे हिन्दी में लोग लिखते हैं—पढ़ने योग्य पुस्तकें, खाने योग्य चीजें, पहनने योग्य कपड़े, इत्यादि। वर्माजी चाहते हैं कि एक 'के' यहाँ जरूरी है। वह कहाँ गायब हो गया? उसे ला

कर रखो। यदि अनावश्यक समझ कर अलग कर दिया गया हो, तो ढूँढ़ कर लाओ और चिपकाओ। तब वाक्य यों व्याकरण-सम्मत होंगे—पढ़ने के योग्य पुस्तकें, खाने के योग्य चीजें, पहनने के यगेय कपड़े, इत्यादि। 'के' के बिना वे वाक्य अशुद्ध समझे जायँगे, वर्माजी का मत है!

अच्छा, सोचना यह है कि ऐसे स्थलों से 'के' उड़ क्यों गया? मालूम यह होता है कि 'के के' यों दो बार जब 'के' आने लगा होगा, तब एक जगह का 'के' लोगों ने उड़ा दिया होगा, यह समझ कर कि मतलब निकल ही आता है और कर्कशता कम हो जाती है। 'राम के पढ़ने के योग्य' 'गोविन्द के खाने के योग्य फल' 'श्याम के पहनने के योग्य कपड़े' इत्यादि में दो बार 'के' का प्रयोग लोगों को भद्दा जँचा होगा, और तब 'योग्य' के साथ रहनेवाला 'के' उड़ा दिया गया! पहला 'के' आवश्यक समझ कर रख लिया गया। यों 'पढ़ने योग्य' आदि प्रयोग चालू हो गये और 'भाषा का प्रवाह' या 'भाषा की प्रकृति' कहकर ऐसे प्रयोगों का समर्थन व्याकरणकारों ने भी कर दिया। परन्तु वर्मा जी को यह सब मान्य नहीं। नियम तो नियम ही होता है। जब कि 'के' वहाँ था, तो जा कहाँ सकता है? आदमी के कभी पूँछ थी और वह घिस-घिस कर दूर हो गयी हो, तो और बात है। उसे हम फिर से जोड़ नहीं सकते हैं। परन्तु 'के' का जोड़ना तो हमारे बस की बात है। उसे कैसे—छोड़ दिया जाय? यह वर्माजी का मत है और इसीलिए 'रखे जाने के योग्य' प्रयोग है। 'रखे जाने योग्य' उतना अच्छा नहीं!

३४—"यदि भाषा सिरसे पैर तक मुहावरों, कहावतों और अलंकारों आदिसे लदी हो, तो वह भी भद्दी हो मानी जायगी।"

'मानी जायगी' यानी कुछ लोगों के मत में। 'भद्दी हो जायगी' लिखा जाता, तो निश्चयात्मकता आ जाती, इसीलिए 'मानी जायगी' का प्रयोग है। कितनी सावधानी वर्ती गयी है? यही तो भाषा-प्रयोग की खूबी है! हाँ, वीच में 'ही' लाकर जोर दे दिया है। यानी हम तो ऐसी भाषा को भद्दी ही मानेंगे, चाहे जो हो!

३५—"हम सरल और स्पष्ट वाक्य-रचना की सहायता से परम जटिल भावों की जटिलता और दुरूहता भी बहुत कुछ कम कर सकते हैं, और उन्हें यदि सबके समझने योग्य नहीं, तो कम से कम समझदारोंके समझने योग्य तो अवश्य ही बना सकते हैं।"

'जटिल भावों की जटिलता' ऐसे ही, जैसे 'मीठे आमों की मिठास' और 'खट्टे आमों की खटास'। 'कमसे कम समझदारों के समझने योग्य' में 'कम से कम' कितना अच्छा है? यदि इसे यहाँ से अलग कर दिया जाय, तो पूरा वाक्य ही निर्जीव तथा भ्रामक हो जायगा! 'समझने योग्य' में 'के' छूट गया है; क्योंकि 'समझदारों के' में 'के' के साथ और एक 'के' 'काँव-काँव' की-सी आवाज पैदा करता, जैसे मेरे इस वाक्य में। उसे ही हटाने के लिए वर्माजी ने 'के' छाँट दिया है। शायद अभ्यास-वश ऐसा हो गया हो। प्रवाह में लोग वह ही जाते हैं।

हम लोग तो ऐसा लिखते—

"दुरूह और जटिल भाव हम ऐसे जटिल वाक्यों द्वारा क्यों और जटिल कर दें कि समझदार भी न समझ पायें!" दूसरी तरह भी—"स्वभावतः दुरूह तथा जटिल भाव भी सरल-स्पष्ट वाक्यों द्वारा इस तरह प्रकट किये जा सकते हैं कि कम से कम उन लोगों के समझने में तो कोई कठिनाई न सामने आये, जो उन्हें समझने की शक्ति रखते हैं।"

वर्माजी ने वाक्य-विच्छित्ति का नमूना उपस्थित किया है, जिसने भाषा को सजीव कर दिया है।

३६—"यहां हम यही कहना चाहते हैं कि लेखकों को विराम-चिन्हों का ठीक ठीक प्रयोग भी अवश्य सीखना चाहिए।"

जो लेखक बनना चाहते हैं, उन्हें ही नहीं, 'लेखकों' को भी सीखना चाहिए। और 'विराम-चिह्नों का प्रयोग भी सीखना चाहिए।' वैसे विराम-चिह्नों को मँगाना, सँभाल कर रखना आदि सीखना तो जरूरी है ही; पर उन का 'प्रयोग भी' सीखने की चीज है।

वैसे साधारणतः लिखा जायगा—'विराम-चिह्नों का भी प्रयोग।' यानी लेखक को या लेखक बनने वाले को शब्द की ही तरह विराम-चिह्नों का भी प्रयोग करना सीखना चाहिये। वर्मा जी ने 'भी' का विप्रयोग 'प्रयोग' के साथ किया है, यही विशेषता है।

फिर आप ने विराम-चिह्नों का प्रयोग कितनी अच्छी तरह कर के बताया है, इस का भी एक उदाहरण साथ ही—

"हमारा रचना का उद्देश्य सदा पवित्र होना चाहिए। वह सदा

देश, समाज और धर्म (व्यापक अर्थ में) के लिए हितकर होनी चाहिए।"

कोष्ठक में बन्द 'व्यापक अर्थ में' के 'में' के साथ अगला 'के' कितना अच्छा लगता है ? 'में के' ! 'में के लिए हितकर होनी चाहिए।' हम लोग विराम-चिह्नों का ठीक प्रयोग नहीं कर पाते और ऐसे स्थलों पर यों लिख जाते हैं—

"वह सदा देश, समाज और (व्यापक अर्थ में) धर्म के लिए हितकर होनी चाहिए।"

एक बात और ! देश तथा समाज में अन्तर वर्मा जी ने बतलाया है ! देश भूमि-भाग, और समाज वहाँ बसा मानव समुदाय। रचना भूमि के लिए भी होनी चाहिए। 'देश' से 'समाज' का और 'समाज' से 'देश' का ग्रहण नहीं हो सकता। इसी लिए दोनो रखे गये हैं। यही नहीं, रचना धर्म के लिए भी हितकर होनी चाहिए। वैसे धर्म (कर्तव्य-विधि) से समाज का हित होता है। परन्तु धर्म का भी हित हो, ऐसी रचना चाहिए। हम लोग सीधा कह देते—'रचना समाज के लिए हितकर होनी चाहिए।' वर्मा जी ने देश तथा धर्म को भी उसके साथ रख कर वह मतलब पूरा कर दिया है, जो वैसे हो नहीं सकता था ! इसी को कहते हैं—समझदारी के साथ भाषा का प्रयोग करना !

३७—"जो कुछ लिखा जाता है, वह प्रायः छापने के उद्देश्य से ही लिखा जाता है।"

'लिखा जाता है'—'लिखा जाता है' कैसा शब्द-चमत्कार है ? वैसे सीधा यों लिख दिया जाता है—'प्रायः छपाने के उद्देश्य से ही लोग कुछ लिखते हैं।' परन्तु इसमें वह चमत्कार नहीं आ

पाया। एक बात और। 'जो कुछ लिखा जाता है' में जो व्यापकता तथा जोर है, वह केवल 'कुछ' में कहाँ? जो कुछ भी लिखा जाता है, सब प्रायः छापने के उद्देश्य से! 'जो' के मुकाबले में 'वह' भी व्याकरण-सम्बन्धी सतर्कता प्रकट करता है।

३७—"आप स्वयं अपनी या किसी दूसरेकी भाषा शुद्ध करने बैठिये। अवश्य ही आप उसके बहुत-से दोष दूर कर सकेंगे। फिर भी, बहुत सम्भव है कि उसके कुछ न कुछ दोष बाकी ही रह जायँ।"

'बैठिये' में 'ये' व्याकरण-विशुद्धता का परिचायक है। इसी तरह 'मेरे लिये यह काम कठिन है' आदि में 'य' की शोभा रहती है। यह न पूछो कि यह 'य' कहाँ से आया! 'मैं' ने फल लिया'। फल का बहुवचन होने पर क्रिया 'लिये' होगी, लोप होने पर 'लिए' भी। परन्तु 'बैठिये' में 'य' किस तरह आया, यह भाषा-चमत्कार की बात है। 'अच्छी' हिन्दी में ऐसे प्रयोग होते ही हैं।

'उसके कुछ न कुछ दोष बाकी ही रह जायँ' में 'ही' भी जोर देने के लिए है। 'बहुत सम्भव है' से जो सन्दिग्धता प्रकट होती है, उसे 'ही' ने दूर कर दिया है!

३८—"मनोविनोद, खेलवाड़ या किसीके अपकार आदि की दृष्टिसे कोई रचना नहीं होनी चाहिए।"

समझे? मनोविनोद के लिए रचना बन्द! तुलसी ने 'स्वान्तः सुखाय' जो लिखा है, वह और बात है। वर्मा जी चाहते हैं कि हास्य-रस आदि की रचना न होनी चाहिए;

क्योंकि 'रोग का घर खाँसी और झगड़े का घर हाँसी !' गम्भीर रचना ही उचित है !

'खेलवाड़' भी ध्यान देने योग्य है। हम लोग 'खिलवाड़' लिखते हैं।' परन्तु वर्मा जी ने शुद्ध किया। 'खेल' में जब 'ए' है, तो फिर उससे बने दूसरे शब्द में वह क्यों नहीं ? 'खेल' का 'खिल' कैसे ? सो, वर्मा जी ने 'खेलवाड़' लिखा, शुद्ध-शुद्ध। इसी तरह आप 'दुधमुहे' को 'दूधमुहाँ', 'खटमल' को 'खाटमल' और 'सतनजा' को 'सातनजा' लिखने के पक्षपाती हैं। आपके ही अनुयायी गया के श्री महतो जी हैं, जिन्होंने अपनी एक पुस्तक का नाम ही 'एकतारा' रखा है। वैसे लोग 'इकतारा' बोलते-लिखते हैं ! यों वर्मा जी भाषा-संशोधन कर रहे हैं। देश को उनकी मदद करनी चाहिए !

आगे फिर—

"उसका (रचना का) स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि लोगों पर सदा उसका शुभ प्रभाव ही पड़े।"

"उसका (रचना का) स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि लोगों पर सदा उसका शुभ प्रभाव ही पड़े।" 'ही' से इतना जोर दे-देने पर भी शङ्का रही। शायद लोग मतलब न समझ पावें, इस लिए आगे खुलासा किया गया है—

"कभी कोई अशुभ या अवांछनीय प्रभाव न पड़े।"

'प्रभाव पड़े' और 'प्रभाव न पड़े' में शब्दालंकार ! 'अशुभ' जरा क्लिष्ट है; इसलिये उसका खुलासा 'अवांछनीय' पदसे किया गया है। इसीको 'प्रसाद' गुण कहते हैं। अर्थ एकदम जगमगाता नजर पड़े।

३६—"बोलने और लिखने में दो बातों का महत्त्व सब से अधिक होता है—एक तो अर्थ का और दूसरे भाव का !"

यानी महत्त्व और बातों का भी है भाषा में; पर 'अर्थ' तथा 'भाव' का महत्त्व सबसे अधिक है ! 'भाव' की गिनती 'अर्थ' से अलग है; क्योंकि 'अर्थ' में वह आता ही नहीं !

जब हम निर्देशक-चिह्न (—) का प्रयोग करते हैं, तो साधारणतः 'एक' और 'दो' नहीं लिखते। जैसे—'हमारे साथ दो लड़के थे—मोहन और सोहन।' वर्माजी इसमें स्पष्टता चाहते हैं—"हमारे साथ दो लड़के थे—एक तो मोहन और दूसरा सोहन।" यदि 'एक' तथा 'दो' शब्द न दिये जायँ, तो वाक्य भद्दा हो जायगा। इसी लिए वर्मा जी ने सावधानी से प्रयोग करने की शिक्षा दी है।

४०—"बहुत से लोग यह आपत्ति किया करते हैं कि........"

'आपत्ति' संस्कृत शब्द है और 'विपत्ति' का पर्य्याय है। इसका प्रयोग लोग 'एतराज' के अर्थ में किया करते हैं, जब कि 'विपत्ति' के अर्थ में भी चालू है। संस्कृत में उस अर्थ में 'विप्रतिपत्ति' का प्रयोग होता है, जिसके लिए वर्माजी ने 'आपत्ति' दिया है। वैसे वर्मा जी भाषा-संशोधन कर रहे हैं; पर जो शब्द बहुत दिन से गलत प्रयुक्त होता चला आ रहा है, उसे वे वैसा ही बना रहने देना चाहते हैं ! इन झगड़ों में पड़ना ठीक नहीं है। 'आपत्ति' के अर्थ में 'विप्रतिपत्ति' चलाने का बखेड़ा कौन करे ! 'बहुत लोगों को इसमें विप्रतिपत्ति है' कुछ बेढंगा सा लगता है। हाँ, फारसी शब्दों का ठीक प्रयोग वर्माजी जरूर

कर रहे हैं। हिन्दी में प्रचलित 'मटियामेट' की जगह वे शुद्ध 'मलियामेट' चलाने का भगीरथ-प्रयत्न कर रहे हैं।

४१—"शुद्ध और अच्छे वाक्यों में यदि एक शब्द भी इधर-उधर कर दिया जाय, तो या तो वह वाक्य अशुद्ध हो जायगा या उसका आशय ही बदल जायगा।"

'अच्छे वाक्यों में यदि एक शब्द भी' कितना अच्छा प्रयोग है! इसीलिए तो एकवचन से आगे जाकर बहुवचन की शरण लेनी पड़ी है। यदि एकवचन 'अच्छे वाक्य में' यों होता, तो न उतना शुद्ध होता, न उस में उतना जोर ही रहता। परन्तु आगे चल कर 'वह वाक्य अशुद्ध हो जायगा' लिख कर मार्ग बदल दिया गया है, चमत्कार लाने के लिए! शत्रु को बहुत ऊँचे उठा कर पटकने में ही तो मजा है। पहले बहुवचन, फिर एकवचन! यानी अच्छे वाक्यों में 'एक शब्द भी' इधर-उधर कर दिया जाय, तो वह वाक्य अशुद्ध हो जायगा, जिसका वह शब्द है। शेष वाक्यों से कोई मतलब नहीं! यह मतलब होगा!

'एक शब्द भी' में 'भी' का प्रयोग कितना नपा-तुला है! शब्द भी इधर-उधर कर दिया जाय, तो वाक्य गया! यदि और कुछ इधर-उधर कर दिया जाय, तब तो कहना ही क्या! यदि इस वाक्य का 'भी' उठा कर 'एक' के पास रख दिया जाय, तो हो जायगा—'एक भी शब्द'! कितना भद्दा और खटकने वाला वाक्य हो जायगा?—'एक भी शब्द इधर-उधर कर दिया जाय'! 'एक शब्द भी' में जो शुद्धता और जोर है, वह 'एक भी

शब्द' में कहाँ है? ऐसा जान पड़ता है कि वाक्य भ्रष्ट हो गया!

"वाक्य अशुद्ध हो जायगा या उसका आशय ही बदल जायगा।"

यानी यदि किसी वाक्य का आशय बदल जाय, तो उसे अशुद्ध नहीं कह सकते, और चाहे जो हो। अशुद्ध हो जाना उतना बुरा नहीं, जितना आशय बदल जाना! इसी लिए आगे-पीछे का क्रम है।

४२—"व्याकरण का साधारण नियम है कि वाक्य में पहले कर्त्ता रहता है, फिर कर्म और अन्तमें क्रिया।"

'अच्छी हिन्दी' पुस्तक एम० ए० तथा 'साहित्यरत्न' आदि उच्च परीक्षाओं में पाठ्य पुस्तक है; इस लिए इन परीक्षाओं के छात्रों को उचित है कि व्याकरण का उपर्युक्त नियम अच्छी तरह याद कर के मन में जमा लें। अगली बातें तभी समझ में आयेंगी। आगे—

"यदि वाक्य इसी साधारण क्रम के अनुसार बना हो, तो उसमें साधारण विधान होता है।"

'साधारण क्रम से' एक साधारण प्रयोग है; इस लिए कहा गया है—'साधारण क्रम के अनुसार'! 'क्रम' की जगह साधारण जन 'नियम' ऐसे स्थलों पर रखते; पर 'अच्छी' हिन्दी में 'क्रम' चलता है। यदि वाक्य साधारण क्रम के अनुसार बना हो, तो उसमें साधारण विधान होता है। मतलब यह कि यदि वाक्य साधारण क्रम से हो, साधारण विधान से हो, तो उसे साधारण ही समझना चाहिए!

"पर यदि इस क्रम में कुछ परिवर्तन करके वाक्य के आरम्भ में कोई और शब्द रखा जाय, तो फिर उसी शब्द पर जोर होता है।"

उदाहरण में वर्माजी कहते हैं—

"इस वाक्य में 'राम' पर जोर है और उसका ('इसका' नहीं) आशय यह है कि राम को ही उसने घोड़ा दिया, और लोगों को दूसरी चीज दीं।"

'और लोगों को दूसरी चीजें दीं' यह मतलब भी भरा है! यह न समझ लीजिएगा कि केवल घोड़े की ही बात देने-न देने की है!

जोर 'राम' पर है! समझ गये न? सो इस लिए कि उस (राम) का प्रयोग, क्रम बदल कर, पहले कर दिया गया है। जो पहले मारे, वही मीर!

एक मजेदार किस्सा सुनिए। सन् १६३८ में हरिद्वार-कुम्भ का मेला देखा। हरि की पैड़ी पर जगह-जगह चूना-भरे कनस्तर रखे थे और उनमें लिखा था—"यहाँ थूकिए"। मैं अपने एक साहित्यिक मित्र के साथ उधर गया, तो रुक गया। अपने मित्र से मैंने कहा कि पहले इस कनस्तर में थूक लो, तब आगे बढ़ो; क्योंकि सरकारी हुक्म है—'यहाँ थूको'! यही नहीं, ये जो आगे सैकड़ों कनस्तर रखे हैं, सब में थूकना होगा। थूकते जाओ और आगे बढ़ते जाओ। कोई बात होगी। सरकारी आज्ञा है!

मेरे मित्र झल्लाए! बोले—"वाजपेयी जी, आप भी बाल की खाल निकाला करते हैं! और क्या इन कनस्तरों में इतना बड़ा मजमून लिखा जाता कि 'यदि थूकना हो, तो यहाँ थूको'? आप भी खूब रहे!"

हम दोनो आगे बढ़ गये, थूके बिना ही; परन्तु बातें जारी रहीं। उन्हें मैंने जवाब दिया—"उतना बड़ा मजमून लिखने-लिखाने की जरूरत न थी। केवल शब्दों का हेर-फेर ही आशय बदल देता है।"

"सो कैसे?"

"यहाँ थूकने का विधान नहीं है। सरकारी हुक्म यह नहीं है कि यहाँ जरूर थूको। विधान है अधिकरण या स्थान का। मतलब यह है कि यदि थूकना हो, तो यहाँ थूको। यों 'यहाँ' पर जोर है। यदि 'यहाँ' को आगे से उठा कर पीछे रख दिया जाय, तो उस पर जोर आ जाता है—'थूको यहाँ'! इसका मतलब निकलेगा कि यदि थूकना चाहो, तो यहाँ थूको। वाक्य में उस शब्द पर प्रायः जोर आ जाता है, जिसका प्रयोग अन्त में हो। इसी लिए क्रिया का प्रयोग अन्त में होता है; क्योंकि वह विधेय के रूप में आती है। परन्तु, यदि क्रिया में विधेयता विवक्षित न हो, तो फिर वह शब्द बाद में आता है, जो विधेय-रूप से संवलित हो। इसी लिए 'थूको यहाँ' में मतलब बदल गया और 'यहाँ' पर जोर आ गया।"

इस व्याख्यान के बाद मित्र चुप हो गये। कुछ और उदाहरण मैं देना चाहता हूं। पहले वर्मा जी का दिया हुआ ही वाक्य लीजिए—

"राम को उसने धोखा दिया।"

कहाँ क्या जोर है, कितना जोर है? इसी को यों कर दीजिए—

'उसने घोड़ा दिया राम को'

अब 'राम' पर अवश्य जोर है और स्पष्ट है कि 'राम को ही इसने घोड़ा दिया'। और भी—

१—उस समय आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी का परिष्कार किया।

२—आचार्य द्विवेदी ने उस समय हिन्दी का परिष्कार किया।

इन दोनों वाक्यों में क्या अन्तर है ? वर्मा जी के मत से दूसरे वाक्य में 'आचार्य द्विवेदी' पर जोर है और आशय यह कि आचार्य द्विवेदी ने ही हिन्दी का परिष्कार किया, अन्य किसी ने नहीं। परन्तु यह बात केवल कहने की है! दोनों वाक्यों में कोई अन्तर नहीं! इस प्रकार शब्द आगे-पीछे करने से जोर घटता-बढ़ता नहीं है। ऊपर के दोनो वाक्यों में कोई अन्तर नहीं है। शब्द का प्रयोग पहले कर देने से उस पर जोर आ जाता है ; वर्मा जी का यह 'सिद्धान्त' तो बहुत ही मजेदार है! इसी 'सिद्धान्त' को स्पष्ट करने के लिए आपने कई पृष्ठ रँगे हैं और बीसों उदाहरण फेर-फार के साथ दिये हैं! परन्तु समझ कुछ आप पाये नहीं। कोई नियम न बना सके! एक नियम दिया कि वाक्य में किसी का पहले प्रयोग कर दो, तो उस पर जोर आ जाता है। सो, यह 'नियम' कैसा है, देख लीजिए! अब ऊपर दिये वाक्यों में फेर-फार कर के यों कर दीजिए—

१—उस समय हिन्दी का परिष्कार किया आचार्य द्विवेदी ने।

२—हिन्दी का परिष्कार उस समय किया आचार्य द्विवेदी ने।

इन दोनो ही वाक्यों में 'आचार्य द्विवेदी' पर जोर है। वाक्य में पहले प्रयुक्त होने के कारण न तो 'उस समय' पर जोर है, और न 'हिन्दी' पर।

एक और वाक्य लीजिए—

'आचार्य द्विवेदी ने परिष्कार किया हिन्दी का।

मतलब यह कि उन्होंने चाहे जितनी भाषाएँ पढ़ी हों और चाहे जिस भाषा के साहित्य का रस लिया हो; परन्तु परिष्कार का काम हिन्दी का ही किया, किसी दूसरी भाषा का नहीं।

और लीजिए—

१—आचार्य द्विवेदी ने अपनी कलम से यश-अर्जन किया।

२—अपनी कलम से आचार्य द्विवेदी ने यश-अर्जन किया।

क्या अन्तर है? 'अपनी कलम' का प्रथम प्रयोग कर देनेसे कितना जोर आया? अब देखिए—

१—आचार्य द्विवेदी ने यश-अर्जन किया अपनी कलम से।

३—यश-अर्जन किया आचार्य द्विवेदी ने अपनी कलम से।

प्रथम वाक्य में 'आचार्य द्विवेदी' का प्रथम-प्रयोग है; पर जोर कहाँ है? 'आचार्य द्विवेदी' पर या 'कलम' पर? दूसरे वाक्य में 'यश-अर्जन' का प्रथम-प्रयोग है। परन्तु जोर इसपर है, या 'कलम' पर?

परन्तु वर्माजी 'अच्छी' हिन्दी लिखना सिखा रहे हैं! सम्भव है, मेरी समझ में बात न आ रही हो!

क्रिया के बाद ही नहीं, पहले भी शब्द का प्रयोग होने पर जोर रहता है। हाँ, वाक्य के अन्यान्य शब्दों के अनन्तर वह हो। क्रिया में प्रधानता होती है और इसीलिए उसके समीप—आगे या पीछे—जो शब्द आ जाता है, उसमें भी प्रधानता आ जाती है। क्रिया की अपेक्षा भी वह प्रधान हो जाता है। पर

क्रिया के बाद 'अपनी कलम से' ऐसी पूँछ वर्माजी नहीं रखते। उन्हें वैसे 'पुच्छल वाक्य' पसन्द नहीं है !

१—उसका पता स्वयं डाक्टर साहब ने मुझे दिया था।

२—उसका पता मुझे डाक्टर साहब ने स्वयं दिया था।

३—उसका पता डाक्टर साहब ने स्वयं मुझे दिया था।

ये तीन वाक्य लिख कर वर्माजी विवेचन करते हैं

"इन तीनों वाक्यों में सब शब्द ज्यों के त्यों हैं, परन्तु कुछ शब्दों के केवल स्थान बदले हैं और शब्दोंके इस स्थान परिवर्तन से ही वाक्यों के भावों में कुछ अन्तर आ गया है। पहले वाक्य में एक साधारण घटना का साधारण उल्लेख है। उसमें 'डाक्टर साहब' पर कुछ जोर अवश्य है; पर दूसरे वाक्य में वह जोर बहुत ज्यादा बढ़ जाता है; और तीसरे वाक्य में जोर 'स्वयं मुझे' पर आ जाता है।"

दूसरे वाक्य में जोर बहुत ज्यादा क्यों बढ़ गया ? इसलिए कि 'स्वयं' का बाद में प्रयोग है, क्रिया के पास, जो 'डाक्टर साहब' से अन्वित है। केवल जोर के लिए सरक कर क्रिया ('दिया') के साथ जमा है। जोर का यही कारण है, जिसे वर्माजी समझ नहीं पाये। उनके हिसाब से तो पहले वाक्य में ही अधिक जोर होना चाहिए, जहाँ 'स्वयं' का प्रयोग पहले है। दूसरे वाक्य में तो वह बहुत पीछे चला गया ! तब जोर क्यों आ गया ? तीसरे वाक्य में जोर 'मुझे' पर है; इसीलिए कि उसका प्रयोग बाद में है, क्रिया के पास।

परन्तु यदि अभीष्ट शब्द का प्रयोग क्रिया के बाद हो, सबसे पीछे, तो जोर इतना बढ़ जायगा कि 'स्वयं' की बैसाखी भी हटायी जा सकती है—

१—उसका पता डाक्टर साहबने मुझे दिया था।

२—डाक्टर साहब ने उसका पता मुझे दिया था।

३—मुझे उसका पता डाक्टर साहब ने दिया था।

तीनों वाक्य साधारण हैं। प्रथम प्रयोग होनेके कारण न तो 'उस' पर जोर है और न 'डाक्टर साहब' पर। अब जिस पर जोर देना है, उसे सबसे पीछे ले जाइए—

१—उसका पता मुझे दिया था डाक्टर साहब ने।

२—डाक्टर साहब ने उसका पता दिया था मुझे।

३—डाक्टर साहब ने उसका दिया था मुझे पता।

उसका पता भर मुझे दिया था, और कुछ नहीं; यह तीसरे वाक्य का मतलब।

१—भारतवर्ष को श्री सुभाषचन्द्र बोसने आजाद कराया।

२—श्री सुभाषचन्द्र बोस ने भारतवर्ष को आजाद कराया।

दोनों वाक्यों में क्या अन्तर है? प्रथम-प्रयोग से 'भारत' या 'श्री सुभाषचन्द्र' में क्या जोर आ गया? अब बाद का प्रयोग देखिए—

"भारतवर्ष को आजाद कराया श्री सुभाषचन्द्र बोस ने।"

इसी तरह—

"भारत को आजाद कराया श्री सुभाष ने अपनी प्रतिभा से।"

यहाँ 'प्रतिभा' पर जोर है। इसी तरह—

१—मैं तबतक पास करूँगा बी० ए०।

२—मेरे लिए तुम्हें पानी लाना होगा कुए से।

३—अब आगे जन्मभर मैं दूध पीऊँगा गौ का।

४—भाई, सुख तो मिलता है अपने घर पर।

५—कलमी आम दूँगा मैं अपनी बहन को।

६—मैं धन भी पैदा करूँगा अपनी कलम से।

आप देखें, इन वाक्यों में जोर कहाँ है? वाक्यों में प्रथम-प्रयुक्त शब्दों पर जोर है, या अन्त में पड़े हुए अंशों पर? मैंने डरते-डरते इतना लिख दिया है। वर्माजी की धाक मेरे ऊपर भी है। हो सकता है, प्रथम प्रयुक्त होनेवाले शब्दों पर ही जोर रहता हो! वैसा समझने लगोगे तो जोर अपने आप मालूम होने लगेगा। जोर जिसमें होता है, वह सबसे आगे बैठता ही है! इस दृष्टि से वर्माजी का सिद्धान्त जंचता तो है। सम्भव है, भ्रमवश मुझे पीछे लगनेवाले शब्दों में जोर मालूम होता हो!

४२—"एक वाक्य में, श्लेष को छोड़ कर, एक शब्द साधारणतः एक से अधिक अर्थों में कभी प्रयुक्त नहीं होता।"

न होना चाहिए, यह मतलब।

साहित्य के आचार्यों को और कवियों को नोट कर लेना चाहिए। 'श्लेष' के अतिरिक्त अन्यत्र किसी भी दूसरे अलंकार में वैसे शब्द न देने चाहिए; नहीं तो भाषा खराब हो जायगी!

४३—"मुझे सन्देह है कि युद्ध १९४४ के पहले बन्द हो जायगा।"

इस वाक्य को उद्धृत करके वर्माजी ने इसपर यों टिप्पणी की है—

"इस से यह सूचित होता है कि वक्ता महोदय मानों यह चाहते हैं कि युद्ध अभी कुछ और अधिक समय तक चलता रहे। होना चाहिए—

मैं समझता हूं कि.........! वाक्य में यह दोष आंखें बन्द करके अंग्रेजों से अनुवाद करने के कारण आया है।"

वर्माजी मुनाफाखोर व्यापारी नहीं हैं, इसलिए दूसरी बात ध्यान में नहीं आयी! किसी प्रकरण या लेखक का उल्लेख तो है ही नहीं! ऐसी दशा में, यदि किसी व्यापारी का ही अपने किसी मित्र के प्रति वह वाक्य हो, तब? तब तो ठीक है न? तब तो वह चाहता ही है कि युद्ध अभी और कुछ दिन (या सदा ही) चलता रहे, तो अच्छा! तब वाक्य कैसे गलत कहा जायगा?

और, यदि वस्तुतः किसी को 'सन्देह' हो, तो? किसी ने कहा, युद्ध सन् १९४४ के पहले बन्द हो जायगा। इस पर दूसरे ने कहा 'मुझे सन्देह है कि...।' यानी मुझे इसमें सन्देह है कि युद्ध सन् '४४ के पहले बन्द हो जायगा! क्या गलती? जो बात वर्माजी समझे हैं, उसे प्रकट करने के लिए तो यों वाक्य होता—"युद्ध सन् १९४४ के पहले ही तो बन्द न हो जायगा?" जो बात वर्माजी समझे हैं, यदि वही होती, तो 'सन्देह' की जगह 'डर' 'भय' आदि कोई शब्द होता।

४४—"अब हम ऐसे उदाहरण देना चाहते हैं, जिनमें केवल मात्रा का अन्तर होने के कारण ही भाव बदल जाता है। एक वाक्य लीजिये—रोगी को अनार, सन्तरा और अंगूर का रस दिया जाना चाहिए। इसका अर्थ होगा कि रोगी को अनार दिया जाना चाहिए, सन्तरा दिया जाना चाहिए और अंगूर का रस (अंगूर नहीं) दिया जाना चाहिए। पर यदि हम कहें—'रोगी को अनार, सन्तरे और अंगूर का रस दिया जाना चाहिए' तो इसका अर्थ यह होगा कि इन फलोंका रस दिया जाना चाहिए, फल नहीं दिये जाने चाहिएँ।"

कोष्ठक में "अंगूर नहीं" वर्माजी का ही दिया हुआ है, अर्थ स्पष्ट करने के लिए। 'फलों का रस दिया जाना चाहिए, फल नहीं दिये जाने चाहिएँ' में रेखाङ्कित अंश वर्माजी ने भाषा-सौन्दर्य के लिए दिया है। इससे जोर भी आ गया है। यदि 'फल नहीं' पर वाक्य समाप्त कर दिया जाय, तो वह लँगड़ा सा रहेगा। मतलब साफ न होगा। 'दिये जाने चाहिए' को हटा नहीं सकते हैं। 'अच्छी' हिन्दी तो वही है, जिसके किसी वाक्य में एक भी शब्द न हटाया जा सके, न ऊपर से दिया जा सके, न स्थानान्तरित किया जा सके। यह तो हुआ भाषा-सौन्दर्य! अब विवेचना देखिए।

'मात्रा का अन्तर' भाव बदल देता है, इसमें उदाहरण है। साधारण जन समझा करते हैं कि मात्रा परिमाण को कहते हैं—दवा की मात्रा, दूध की मात्रा। समय के परिमाण को भी व्याकरण में 'मात्रा' कहते हैं। 'अ' और 'आ' दो वर्ण नहीं हैं, एक ही वर्ण के मात्रा-भेद से दो रूप हैं॥ 'अ' के उच्चारण में समय का जो परिमाण लगता है, उससे अधिक 'आ' के उच्चारण में। इसी तरह 'इ-ई', 'उ-ऊ' में मात्रा-भेद है। मात्रा-भेद से शब्दों के भाव क्या, साधारण (वाच्य) अर्थ ही बदल जाते हैं—कोयल-कोयला, काक-काका, आदि। परन्तु 'सन्तरा' तथा 'सन्तरे' में मात्रा का भेद नहीं है, वर्ण का भेद है; ऐसा हम लोग समझते रहे हैं! 'अ' और 'आ' एक ही वर्ण के दो रूप हैं; पर 'ए' इससे भिन्न वर्ण है! सम्भव है, व्यर्थ का वर्ण-भेद वर्माजी भाषा में भी मिटा रहे हों; क्योंकि यह भी एक झगड़ा ही है!

अब उदाहरण के तत्त्व पर आइए। वर्माजी का कहना है कि उस तरह से सन्देह होगा, इसलिए वाक्य इस तरह होना चाहिए—'सन्तरा' को 'सन्तरे' कर देना चाहिए। मेरी मूढ़मति में नहीं आया कि उस वाक्य में जो सन्देह पैदा होगा, वह 'सन्तरे' से कैसे मिट जायगा ! और यदि कोई वाक्य यों हो—

"रोगी को गौ, भैंस या बकरी का दूध देना चाहिए" तो क्या होगा ? गौ देनी चाहिए, भैंस देनी चाहिए, या बकरी का दूध देना चाहिए ? भ्रम हो सकता है न ? तब कहाँ का मात्रा-भेद करें कि वह भ्रम मिट जाय ? 'बकरी' की 'ई' मात्रा का 'ए' की मात्रा कर दें ? परन्तु यहाँ तो 'ए' की मात्रा बहुत खराब हो जायगी ! कुछ समझ में नहीं आता। आशा है, वर्माजी 'अच्छी हिन्दी' के अगले संस्करण में स्पष्ट कर देंगे। वैसे साधारण जनों को तो वैसे वाक्यों में कोई सन्देह या भ्रम नहीं होता। तीनों फल रस वाले हैं। अंगूर तो वैसे भी खाये जाते हैं ; पर अनार तथा सन्तरे का रस ही चूसा या पिया जाता है। सो, अंगूर के रस का विधान करने पर सबका रस ही समझा जाता है। हाँ, यदि ऐसा वाक्य हो—

'रोगी को नारियल, केला और आम का रस देना चाहिए।' तब शायद किसी को कुछ भ्रम-सन्देह हो जाय ! परन्तु नारियल और केले का रस कोई निकालता ही नहीं ; इस लिए ठीक अर्थ निकलेगा कि पहले दो-फल और तीसरेका रस। ये साधारण बातें हैं। परन्तु वर्माजी बहुत गहराई में चले गये हैं ! तभी तो 'गौ, भैंस और बकरी का दूध इसे दो' जैसे वाक्यों की गति समझ में नहीं आती ! शायद यों लिखना पड़ेगा—

'गौ का दूध, भैंस का दूध और बकरी का दूध।'

ऐसा वाक्य बनाने में 'दूध' शब्द बार-बार लाना पड़ेगा और वह कुछ भद्दा भी लगेगा; परन्तु 'शुद्ध' तथा 'अच्छी' हिन्दी बनाने के लिए वैसा करना पड़ेगा। वर्माजी उसे अलङ्कार समझते हैं न!

इसी पर और विवेचन है। उस 'अशुद्ध' वाक्य का जो संशोधित रूप वर्माजी ने उपस्थित किया है, उस पर भी फिर विचार किया है। आप लिखते हैं—"परन्तु फिर भी यह सन्देह रह ही जायगा कि तीनों फलों के एक में मिले हुए रस दिये जायँ या तीनों फलों के अलग-अलग रस दिये जायँ।" मतलब यह कि 'रस दिया जाना चाहिए' में 'रस' के एकवचन-प्रयोग से भ्रम रहता है। इस लिए, वर्माजी के मत में, वाक्य यों होना चाहिए—

'रोगी को अनार, सन्तरे तथा अंगूर के रस दिये जाने चाहिएँ।'

यदि अलग-अलग रस देने हैं, तब एकवचन प्रयोग करो! साधारण लोग सदा एकवचन का ही प्रयोग करते हैं। उसी का यह परिष्कार है। हाँ, बहुवचन ऐसे स्थलों पर तो लोग बोलते ही हैं—'यहाँ सभी फलों के रस मिलते हैं', 'इस दूकान पर सब तरह के तेल बिकते हैं', 'सब तरह के जलों में द्रवत्व तो होता ही है' इत्यादि। 'फिर भी यह सन्देह रह ही जाता है' के आगे वर्माजी ने जो लिखा है, उस में रेखाङ्कित अंश जोर देने के लिए है। वैसे 'या अलग-अलग' इतने से ही काम चल जाता है; परन्तु यहाँ काम चलाना भर तो है नहीं! हिन्दी का परिष्कार करके उसका अच्छे से अच्छा रूप सामने लाना है!

४५—"कोट का दाम पाजामे से अधिक होता है"—इस वाक्य को गलत बतला कर वर्माजी ने लिखा है कि शुद्ध यों है—

"कोट का दाम पाजामे के दाम से अधिक होता है।"

मतलब यह कि अधिकता तो 'दाम' की बतलानी है न? यानी—१—वर्माजी में औरों से अधिक विद्वत्ता है! २—आम में और फलों से अधिक स्वाद है। ये वाक्य गलत हैं। सन्देह रह जाता है! औरों की विद्वत्ता से वर्माजी में विद्वत्ता अधिक है, न कि 'औरों से!' इसी तरह और फलों के स्वाद से अधिक स्वाद आम में है, न कि 'और फलों से'! ओह! 'स्वाद से' नहीं, शायद 'स्वादों से!' सब के स्वाद अलग-अलग हैं न! ठीक होते होते ही तो हिन्दी ठीक होगी न! आयँ! 'ठीक होते होते या 'ठीक होती-होती'? हिन्दी तो स्त्री-लिङ्ग है न? सम्भव है, 'होते-होते' प्रयोग वर्माजी गलत समझें, व्याकरण-विरुद्ध! तब फिर हम लोगों को 'होती-होती' ही लिखना होगा! देखा जायगा।

४६—"हिमालय लन्दनको सैर करने गया है" वर्माजी ऐसे प्रयोगों को बिलकुल गलत समझते हैं! इसलिए—'काशी चौंक उठी' प्रयाग के सुख का ठिकाना न रहा, जब नेहरू जी प्रधान मंत्री 'हुए', 'मास्को क्या कहता है' इत्यादि प्रयोग गलत हैं। यहां सब जगह 'वासी' और लगना चाहिए! 'लक्षणा' का बखेड़ा साहित्यशास्त्रियों का पुराना दकियानूसी पचड़ा है, जो अब हटना ही चाहिए! सावधान!

आगे फिर वर्माजी ने कुछ ऐसे उदाहरण भाषा-सम्बन्धी गलतियोंके दिये हैं—

"इन सब (कागजों) को जलाने से पहले इनकी नकल जरूर कर ली जाय।"

यानी कोई भी गलती भाषा की ही गलती है। ऊपर के वाक्य में भाषा-सम्बन्धी तो कोई गलती नहीं है; पर आज्ञा देने वाले ने यह न समझा कि जब इन कागजों को जलाना ही है, तब नकल की क्या जरूरत? उसकी यह बेवकूफी भी भाषा-सम्बन्धी ही गलती समझी जायगी। इसीलिए ऐसे उदाहरण दिये गये हैं। भाषा में गलती नहीं है; पर उसकी वह समझ तो गलत है न?

४७—"कभी-कभी लोग भूलसे या अनजानमें कुछ ऐसी बातें कह जाते हैं, जिससे कोई अनिष्ट या अप्रिय ध्वनि निकलती है। बहुत दिन हुए, उर्दू के किसी अखबार में किसी हलुए के विज्ञापन में उसकी तारीफ में छपा था—'यह हलुआ खानेके बाद फिर कुछ भी खाने की जरूरत नहीं रह जाती'। बात बहुत दिनों की है, इसलिए वाक्य का रूप सम्भव है कि इससे कुछ भिन्न रहा हो, पर उससे ध्वनि यही निकलती थी कि यह हलुआ खा कर आदमी मर जाता है और (इसी लिए) उसके लिए कुछ और खानेकी नौबत नहीं आती।"

कोष्ठकमें 'इसीलिए' मैंने लिख दिया है। वर्माजी तो कहते हैं कि वह मर जाता है, और उसके लिए कुछ खाने की नौबत नहीं आती!

बात बहुत दिन की है, इसलिए सम्भव है कि वाक्य का रूप कुछ और रहा हो! समय के अनुसार वाक्य का रूप भी बदलता है न? शायद मतलब यह हो कि बात बहुत पुरानी है; इसलिए

सम्भव है, वाक्य का स्वरूप मैं कुछ भूल गया होऊँ! परन्तु उस स्वरूप से जो ध्वनि निकलती थी, वह (वाक्य के) इस स्वरूप से भी निकलनी चाहिए और निकल रही है ; यह तात्पर्य!

सम्भव है, वर्माजी ने उस विज्ञापन में जो वाक्य पढ़ा था, उसका स्वरूप यों हो—

'यह हलुआ खाने के बाद फिर आप और कुछ भी न खायंगे', इससे वह अनिष्ट ध्वनि निकलती है। 'जरूरत न रहने' से तो वैसी कोई ध्वनि निकलती नहीं है।

४८—"भाषा शब्दों से बनती है, इसलिए उस में शब्दों का महत्त्व सब से अधिक होता है।"

'सब से अधिक' महत्त्वपूर्ण है। भाषा यद्यपि शब्दों से ही बनती है ; फिर भी उस में शब्दों का महत्व सब से अधिक होता है! खोया दूध से ही बनता है ; इसलिए उसमें दूध का ही महत्त्व सब से अधिक है। इसी तरह अन्यत्र समझें।

आगे फिर—"जो शब्द पर्य्यायवाची माने जाते हैं, उनमें भी प्रायः भाव की दृष्टि से कुछ न कुछ अन्तर होता ही है।" यहाँ 'भाव' के साथ 'प्रायः' का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। अन्तर और तरह से भी होता है, परन्तु भाव की दृष्टि से तो प्रायः होता ही है। और किस-किस दृष्टि से अन्तर होता है, सो स्वयं सोचिए। ऐसी छोटी-छोटी बातें लिख कर ग्रन्थ-विस्तार कोई न करेगा !

४९—वर्माजी कहते हैं—'प्रदान' शब्द का क्या अर्थ है, लोग समझते ही नहीं! आगे आप लिखते हैं—"देश में प्रायः

नित्य ही कहीं न कहीं बड़े-बड़े आदरणीय और मान्य व्यक्तियों को अभिनन्दनपत्र और मानपत्र आदि दिये जाते हैं। परन्तु अधिकांश समाचार-पत्रों में उनके उल्लेख प्रायः इसी रूप में होते हैं—'आज वहां अमुक सज्जन को अभिनन्दनपत्र प्रदान किया गया', 'कल वहां अमुक पडित को मानपत्र प्रदान किया गया' आदि ! ऐसे लेखक यह जानते ही नहीं कि अर्पण और प्रदान के भावों में क्या अन्तर है। वे नहीं जानते कि अभिनन्दनपत्र और मानपत्र के साथ 'प्रदान' शब्द का प्रयोग करके हम उन मान्य व्यक्तियोंका कितना निरादर कर रहे हैं।"

वर्मा जी चाहते हैं कि 'मानपत्र प्रदान किया गया' की जगह 'मानपत्र दिया गया' होना चाहिए। कारण, 'मानपत्र दिया गया' कहने में आदर प्रकट होता है और 'प्रदान किया गया' कहने से अपमान ! इसी लिए स्वयं वर्मा जी ने लिखा है—"आदरणीय और मान्य व्यक्तियों को अभिनन्दनपत्र और मानपत्र आदि दिये जाते हैं।" 'दिये जाते हैं' कहने से कितना आदर प्रकट हो रहा है। एक बात और मालूम हुई कि 'मानपत्र' कोई दूसरी चीज है, 'अभिनन्दनपत्र' से। तभी तो अलग-अलग उल्लेख हुआ है। साधारण जन दोनो शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया करते हैं। 'अभिनन्दनपत्र' और 'मानपत्र' में क्या अन्तर है; सो वर्माजी ने यहां नहीं बतलाया; क्योंकि शब्दों की व्याख्या-परिभाषा आदि तो कोश-ग्रन्थों में होती है। यहां तो प्रयोग मात्र समझना है। यों आप समझ लें कि जिस पत्र द्वारा अभिनन्दन किया जाय, वह 'अभिनन्दनपत्र' और जिससे मान प्रकट किया जाय, वह 'मानपत्र'। आगे 'आदि' भी है—'अभि-

नन्दन पत्र और मानपत्र आदि।' इस 'आदि' से समझिए—'प्रशंसा-पत्र', 'आदर-पत्र', सम्मान-पत्र', 'विनयपत्र' आदि। कहाँ तक गिनाये जायं! 'आदरणीय' तथा 'मान्य' शब्दों में भी अर्थ-भेद है। आजकल लोग इन को समानार्थक समझने की गलती कर रहे हैं। परन्तु वर्मा जी ने सावधानी से 'आदरणीय' और मान्य' अलग-अलग प्रयोग किया है।

हम लोग समझा करते थे कि एक साथ प्रयुक्त होने वाले शब्दों में प्रयोग होता है उसका, जिसमें कम स्वर हों और उसके बाद उसका, जिसमें स्वर अधिक हों—'मेज और कुर्सियाँ' लिखते हैं, 'कुर्सियां और मेज' नहीं। इसी तरह 'बाग-बगीचा' होता है, 'बगीचा-बाग' नहीं। 'नकुल और सहदेव' लिखते है, 'सहदेव और नकुल' नहीं। इसका व्यतिक्रम तभी होता है, जब पूज्यता प्रकट करनी हो—'युधिष्ठिर और अर्जुन गये' होगा, 'अर्जुन और युधिष्ठिर' नहीं।

इस साधारण प्रयोग-प्रथा को वर्माजी पसन्द नहीं करते। उन का मत है कि जिस में अधिक स्वर हों, उसका प्रथम प्रयोग होना चाहिए। जिस के पास अधिक रुपये हों, उसे आगे कुर्सी मिलनी चाहिए। इसीलिए आपने 'आदरणीय और मान्य' तथा 'अभिनन्दनपत्र और मानपत्र' लिखा है।

५०—"एक बार एक ऐसे सज्जन का प्रार्थनापत्र देखने को मिला था जो हिन्दी के एम० ए० तो थे ही, हिन्दीसाहित्य सम्मेलन के 'साहित्यरत्न' भी थे। परन्तु अपनी इन योग्यताओं का उन्होंने इन शब्दों में उल्लेख किया था—'मैंने सन् १९३६ में सम्मेलन की

उत्तमा परीक्षा उत्तीर्ण की थी और गत वर्ष काशी विश्व विद्यालय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की है।' वस्तुतः होता तो है मनुष्य किसी परीक्षा में उत्तीर्ण; परन्तु उसकी 'योग्यता' उससे स्वयं परीक्षाएँ ही उत्तीर्ण करा डालती है!"

यानी वर्मा जी 'परीक्षा उत्तीर्ण की' गलत समझ रहे हैं। जिस प्रार्थनापत्रका आपने उल्लेख किया है, उसे 'काशी-नागरी प्रचारिणी-सभा' में आपने देखा था और वह अब भी वहां होगा। उसे देख कर आप चाहे जब जान सकते हैं कि वे सज्जन अभी इस धराधाम पर विद्यमान हैं, दिवंगत नहीं हुए हैं, जिन्होंने वह (प्रार्थना-पत्र) दिया था। 'जो एम०ए० तो थे ही, साहित्यरत्न भी थे।' वर्माजी के इस प्रयोग-वैचित्र्य का मतलब यही है कि वे एम० ए० हैं और 'साहित्य रत्न' हैं, जिन का वह प्रार्थनापत्र देखा था। 'देखने को मिला था' जब उन्होंने भूतकाल लिखा, तो मेल मिलाने के लिए 'एम० ए० थे' और 'साहित्य रत्न थे' भी भूतकाल में प्रयोग कर दिये। वस्तुतः उनकी 'देखना' क्रिया ही भूतकाल को है, प्रार्थनापत्र देने वाले का अस्तित्व वैसा नहीं। उक्ति-वैचित्र्य इसीको कहते हैं, जो भाषा की जान है।

वे 'हिन्दी के एम० ए० थे' इसका मतलब यह स्पष्ट है कि वे एम० एम० चाहे जिस विषयमें हों, हिन्दी संसार से सम्बद्ध थे और विज्ञान या दर्शन आदि विषयों में लिखा करते थे। इसी लिए वे 'हिन्दी के एम० ए०' थे। जो अपने काम आये, वही अपना। यदि कोई 'हिन्दी में एम० ए०' हो; पर हिन्दी से कोई

सम्बन्ध न रखकर अंग्रेजी आदि में काम करे, तो वह 'हिन्दी का' थोड़े ही कहा जायगा ? सोच समझ कर शब्द-प्रयोग करने से ही यह सब प्रकट होता है।

'परीक्षा उत्तीर्ण की' वर्माजी ने गलत बतलाया है। वस्तुतः यह गलती संस्कृत भाषा से आयी है, जहाँ—

'समुत्तीर्णा नदी तेन' और 'उत्तीर्णोऽब्धिर्वानरैः' इत्यादि कर्म-वाच्य प्रयोग लोगों ने कर दिये हैं ! हिन्दीमें उत्तीर्ण होने के अर्थ में 'पास होना' भी चलता है।—

१—राम बी० ए० में पास हो गया (कर्तरि)

और

२—राम ने बी० ए० पास कर लिया (कर्मणि)

इसी तरह—

१—राम बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया (कर्तरि)

और

२—राम ने बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की (कर्मणि)

ऐसा लिखते-बोलते हैं, वर्मा जी कहते हैं कि दूसरी तरह के वाक्य गलत हैं।

संस्कृत 'नद्यामुत्तीर्णः' का अर्थ है—'नदी में उतराया' और 'नदी उत्तीर्णा' का अर्थ है—'नदी पार की'। इसी तरह 'समुद्रे उत्तीर्णः' 'समुद्र में उतराया, या ऊपर आया' और 'समुद्रः उत्तीर्णः' का अर्थ है समुद्र पार किया। परीक्षा की दुस्तरता 'समान धर्म' समझ कर उस में नदी या समुद्र का अध्यवसान किया गया और इसी लिए 'उत्तीर्ण' का प्रयोग होने लगा, जो उन (नदी,

समुद्र आदि दुस्तर जल-महागारों) के साथ ही मुख्यतः आत है। प्रयोग भी दोनो तरह के आ गये। परन्तु आप देखें, ठीक कौन सा है।

'नदी उत्तीर्णा'—नदी पार की।

इसकी तरह—

'परीक्षा उत्तीर्णा'—परीक्षा उत्तीर्ण की।

यह अच्छा प्रयोग है, या—

'नद्यामुत्तीर्णः'—नदी में उतराया, या ऊपर आया।

इसके वजन पर—

'परीक्षायामुत्तीर्णः'—परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ।

यह अच्छा है? वर्मा जी 'परीक्षा उत्तीर्णकी' गलत बतला रहे हैं!

अंग्रेजीका 'पास' शब्द भी देखिए। 'पास करना'=पीछे छोड़ आना। प्रयोग—

'राम ने बी० ए० परीक्षा पास कर ली' (यह अंग्रेजीमें लिखा जाता है) और 'राम बी० ए० परीक्षा में पास हो गया'

इन दो तरह के प्रयोगों में कौन अधिक अच्छा है, 'सुधीभिर्विभावनीयम्'! हम तो दोनो प्रयोगों में से किसी को भी गलत नहीं कहते हैं; पर दोनो में अधिक अच्छा कौन है; देखना यह है। जिसे वर्मा जी फेंक रहे हैं, वही मोती है। जिसे वे पसन्द कर रहे हैं, वह घटिया दर्जेकी चीज है; ऐसा मुंहसे निकल रहा है, डरते-डरते! वे काशी में रहते है और वहां संस्कृत के प्रमाण-पत्रों में लिखा रहता है—'देवेन्द्रः प्रथमापरीक्षायामुत्तीर्णः', देवेन्द्र

प्रथमा परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ ! किसी के प्रमाणपत्र में देखकर वर्मा जी ने समझ लिया कि 'परीक्षा उत्तीर्ण की' गलत है।

सारांश यह कि संस्कृत तथा उर्दू का कुप्रभाव हिन्दी पर पड़ गया है जो दूर होना चाहिए।

५१—"लेखक शायद उन (शब्दों) के ठीक ठीक अर्थ समझते ही नहीं। शब्द पढ़ते हैं किसी और प्रसग में और उनका प्रयोग करते हैं किसी और प्रसग में।"

ऐसा करना बहुत बुरा है। यदि आप कहीं पढ़ें—'समुद्र का जल खारा होता है।' तो समुद्र के प्रसंग में आये हुए इस 'जल' शब्द का प्रयोग आप फिर इसी प्रसंग में करें—समुद्र में अनन्त जल भरा है, समुद्र का जल सूर्य खींचता है, इत्यादि। इस प्रसंग में आये हुए 'जल' का प्रयोग यदि आप किसी दूसरे प्रसंग में कर देंगे, तो गलत हो जायगा ; जैसे—'गंगा का जल मधुर है।' 'बरसात में जलाशयों का जल गंदला हो जाता है' इत्यादि। यदि आपने समुद्र के प्रसंग में 'जल' पढ़ा है, तो आप का यह गंगा तथा बरसात के प्रसंग में उसका प्रयोग गलत हो जायगा ! हाँ, यदि आपने कहीं गंगा और बरसात के प्रसंग में 'जल' शब्द पढ़ा है, तब मजे से इन प्रसंगों में इसका प्रयोग कर सकते हैं !

हम लोग जानते थे कि जिस अर्थ में जो शब्द जहाँ कहीं ठीक जमा हुआ पढ़ें-देखें, उसका उसी अर्थ में प्रयोग करें, जब किसी प्रसंग में वैसा अर्थ प्रकट करना हो ! आज नयी बात मालूम हुई !

५२—"कोई लिखता है वहाँ शेक्सपियर के नाट्य दृश्योंका प्रयोग होता है। (अभिनय होना चाहिए)।"

यह 'प्रयोग' का प्रयोग इस अर्थ में संस्कृत की नकल है। हिन्दी को संस्कृत से क्या मतलब ? संस्कृत में नाटक लिखता है कोई और उसका प्रयोग करता है कोई। मानो वह भी कोई दवा हो कि तैयार हो किसी फार्मेसी में और उसका प्रयोग करें वैद्य लोग चिकित्सा में ! जो लोग हिन्दी में नाटकों का 'प्रयोग' करते हैं, वे 'अभिनय' तथा 'प्रयोग' में शायद अन्तर समझते हैं। 'अभिनय' एकदेशीय और 'प्रयोग' समष्टि में। 'राम ने उस नाटक में स्कन्दगुप्त का अभिनय किया था' अर्थात् रामने स्कन्दगुप्त की भूमिका ग्रहण कर के काम किया था। यहाँ ऐसा कभी न कहा जायगा कि 'राम ने उस नाटक में स्कन्दगुप्त का प्रयोग किया था।' परन्तु सम्पूर्ण नाटक का प्रयोग किया जाता है, अभिनय नहीं। 'काशी में स्कन्दगुप्त नाटक का प्रयोग सम्मेलन के अवसर पर हुआ था।' इस प्रयोग-भेद को वर्मा जी पसन्द नहीं करते। सर्वत्र 'अभिनय' देखना चाहते हैं। अच्छा है ! हाँ, 'नाटकों' का प्रयोग या अभिनय होता है, या 'नाट्य दृश्यों' का भी ! 'नाट्य' यथा 'अभिनय' में शायद भेद है। 'नाट्य' का भी 'अभिनय' होता है। कुछ होगा ! 'नाट्य दृश्य' भी अच्छा है ! वर्मा जी को यह पसन्द है। हम लोग 'दृश्य काव्य' जैसा प्रयोग करते हैं, 'नाट्य दृश्य' नहीं। अब समझ गये।

५३—" 'दोनों पुस्तकों में आपस में बहुत मेल है।' (लड़ाई कब थी ?)"

वर्मा जी ऐसे प्रयोगों को गलत समझते हैं। मेल-मिलाप

तो मनुष्यों में या प्राणियों में होता है। जड़ पुस्तकों में मेल कैसा? इसीलिए—

'वे दोनों पुस्तकें आपस में मिलती-जुलती हैं' यह भी गलत। 'राम गोविन्द से मिलता-जुलता रहता है' यह प्रयोग ठीक है। पुस्तकें क्या सचेतन हैं, जो मिलने-जुलने का काम करेंगी? और—

'इन दोनों पुस्तकों की बातें मिलती-जुलती हैं' यह भी गलत! 'बातें' क्या कोई प्राणी हैं, जो मिलें-जुलेंगी! वर्मा जी ने बताया कि ऐसे प्रयोग करना भाषा को बिगाड़ना है। आपने यह तो नहीं बताया कि किस तरह फिर लिखना चाहिए; पर गलती तो बता ही दी!

१४—"ऐसी किंवदन्ती है कि प्राचीन काल में राजा लोग इसी दशहरे के दिन शत्रुओं पर चढ़ाई करते थे।" यह वाक्य उद्धृत कर के वर्मा जी ने इसमें गलती बतायी है; परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि कहाँ क्या गलती है! वे शायद 'इसी दशहरे के दिन' में 'इसी' शब्द को गलत समझते हैं; क्योंकि 'इस' दशहरे पर वे राजा लोग कैसे चढ़ाई 'करते थे?' 'यह' दशहरा आज आया है और वे चढ़ाई न जाने कब करते थे! वे जिन दशहरों पर चढ़ाई करते थे, वे दूसरे थे और आज का 'यह' दशहरा उनसे भिन्न है!' लोग समझते नहीं! यही नहीं, ऐसे प्रयोग भी लोग करते हैं। दशहरे के दिन व्याख्यान देते हुए लोग कहते हैं—

'आज के ही दिन राम ने विजय-यात्रा की थी।'

'आज के दिन राजा लोग रण-चंडी की पूजा करते थे।'

इत्यादि।

भला, कहिए तो सही, 'आज' से उस भूतकाल के उन राजाओं की उन क्रियाओं का क्या मेल ? मैं भूल गया। 'मेल' नहीं, कुछ और कहना चाहिए। सो, क्या ? अर्थात् अन्वय या सामञ्जस्य नहीं ! इस लिए, ऐसे प्रयोग अब बन्द होने चाहिए।

हम लोग समझते हैं—

'इसी दशहरे पर' और 'इस दशहरे पर' में अन्तर है। इसी तरह 'आज के ही दिन' और 'आज' में अन्तर है। एक प्रकार के प्रयोग भूतकाल से संवलित होते हैं, वर्तमान से सूत्र बाँधते हुए। दूसरी तरह के—'इस दशहरे पर' या 'आज' जैसे प्रयोग भूतकाल से मिले नहीं होते। यों भाषाका प्रवाह चल रहा है, जो बदलना होगा। वर्माजी के भगीरथ-प्रयत्न से हिन्दी की गंगा यदि अपना प्रवाह बदल दे, तो आश्चर्य क्या है ? भेड़चाल अच्छी नहीं होती !

५५—"उन्होंने कई मँहगे ग्रन्थ खरीदे थे।" इस वाक्य को गलत-सलत वाक्यों में वर्मा जी ने रखा है; पर यह यहाँ भी नहीं बताया कि कहाँ क्या गलती है ! हाँ, 'मँहगे ग्रन्थ' इन दो शब्दों को मोटे टाइप में छपाया है, जिस से पता चलता है कि यहीं कुछ है ! क्या है, सोचिए।

'खरीदे' क्रिया से जान पड़ता है कि ग्रन्थ अनेक विवक्षित हैं। तब 'महँगे' विशेषण ठीक बहुवचन है। यदि ग्रन्थ वस्तुतः कीमती थे, तब तो प्रयोग ठीक ही है। कुछ खुलासा है नहीं ! वर्मा जी को शायद पता हो कि पं० भगीरथ प्रसाद दीक्षित जैसा कोई व्यवहार-अनभिज्ञ खरीदने वाला था और जितना मूल्य

चाहिए, उस से अधिक दे कर ठगा आया था, तब वैसा प्रयोग न होगा। कैसा होगा, सो तो वर्मा जी ने नहीं बतलाया; पर समझ लीजिए। मामूली बात हैं! 'मँहगे' पर जोर दे दीजिए। जोर देने के लिए वर्मा जी ने शब्द का पूर्व-प्रयोग बतलाया है और मैंने पर-प्रयोग करने की बात लिख दी है! दोनो देख लीजिए—

'मँहगे ग्रन्थ उन्होंने खरीदे थे'—वर्माजी।

'उन्होंने ग्रन्थ महँगे खरीदे थे'—मैं।

मतलब यह कि ग्रन्थ उन्हें महँगे पड़े। यदि वस्तुतः ग्रन्थ महँगे हों, तब उस प्रयोग में मेरे जैसे साधारण आदमी को कोई गलती ढूँढ़े नहीं मिलती। वर्माजी ही बतलायेंगे या फिर कोई उनका 'समानधर्मा' समझेगा!

५६—"ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जिनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि हिन्दी के बहुत-से लेखक शब्दों और उनके अर्थों आदि का कुछ भी ध्यान नहीं रखते। खेद, दुःख और शोक के भेद समझनेवाले और वे भेद समझ कर अवसर के अनुसार उपयुक्त शब्द का प्रयोग करने वाले कितने लेखक हैं? शायद बहुत थोड़े।"

मार्के की बात कही है। बन जाते हैं लेखक और शऊर इतना भी नहीं! जो भेद समझते हैं, 'ते नर-वर थोरे जगमाहीं।' 'शायद बहुत थोड़े!' वाक्य में 'अर्थों' के आगे 'आदि' शब्द ध्यान देने योग्य । शब्द में अर्थ आदि जितनी भी चीज़ें हैं, उन सब का ध्यान रखना चाहिए! 'भेद समझने वाले' और 'भेद समझ कर' अलङ्कार है! 'वे' का मतलब 'समझने वाले' नहीं

है—'उन भेदों को समझ कर' यों समझिए। 'वे' तो वाक्य-विच्छित्ति के लिए है। और 'को' का अधिक प्रयोग वर्माजी को खटकता भी है; इसी लिए इससे बचने का उपदेश भी आपने दिया है। तभी यहाँ 'वे' है! 'उन' देने से 'को' आ जाता! 'वे' में जोर भी है, जो 'और उन भेदों को समझ कर' ऐसा कहने से उड़ जाता।

'ऐसे लेखक कितने हैं?' इससे मतलब स्पष्ट नहीं हुआ। 'अच्छी' हिन्दी में स्पष्टता चाहिए। इसी लिए आगे लिखा गया है—'शायद बहुत थोड़े!' 'बहुत थोड़े' होने में भी सन्देह है, इसी लिए 'शायद' का प्रयोग है। निश्चयात्मक संख्या तो 'एक' ही है—'व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया!'

५७—अब 'प्रश्न' शब्द पर गम्भीर विचार है। वर्माजी कहते हैं—

> "उन्नति के इस युग में जहाँ लोगों के सामने अनेक प्रकार के प्रश्न उपस्थित हो रहे हैं, वहाँ हिन्दी जगत् में स्वयं 'प्रश्न' शब्द भी एक प्रकार का विकट प्रश्न बन गया है। जिसे देखिये, वही मौके बे मौके 'प्रश्न' शब्द का प्रयोग करता है। यह प्रश्न उस समय और भी बेढब हो जाता है, जब इसके साथ 'को लेकर' लगा दिया जाता है। जैसे 'वे भारत के प्रश्न को ले कर चुनाव में खड़े हुए हैं।' स्वयं 'प्रश्न' का प्रयोग बहुत समझ बूझकर होना चाहिए और उसके साथ यह 'को ले कर' तो बिलकुल छोड़ ही दिया जाना चाहिए।"

वर्माजी 'प्रश्न' को क्यों बुरा समझते हैं और इस प्रश्न को ले कर क्यों इतना बिगड़ उठे हैं, पता नहीं! सम्भव है, कहीं किसी प्रश्न से तङ्ग आ गये हों! वैसे समाधान करने वालों को

प्रश्न तङ्ग ही करते रहते हैं। फिर इस 'को ले कर' से इतनी खीझ क्यों ? यह तो कतई समझ में नहीं आ रहा है !

साधारणतः मत-भेद की अवस्था में 'प्रश्न' या 'समस्या' का प्रयोग होता है। किसी कठिनता के लिए भी इन शब्दों का प्रयोग होता है। एक प्रश्न के कई उत्तर हो सकते हैं और एक समस्या की पूर्ति कई तरह से हो सकती है। इसी लिए मत-भेद के स्थल पर इनका प्रयोग किया जाता है। हमें तो कोई वैसी बात दिखायी नहीं देती ; पर वर्माजी के मन में होगी जरूर। तभी उन्होंने इतना जोर दिया है, इसका परित्याग करने के लिए। मान लीजिए। कोई न कोई रहस्य होगा। हिन्दी-परिष्कार की समस्या गहन है और 'तत्त्वं निहितं गुहायाम्'

श्रद्धा-विश्वास से काम चलेगा !

५८—"एक साधारण शब्द है, 'और' जिस का राजस्थानी आदि कुछ प्रान्तीय बोलिभों में अर्थ होता है' 'अतिरिक्त' या 'ऊपर से।' जैसे 'यह घोड़ी लंगड़ी तो है ही, कानी और है।' परन्तु इस अर्थ में और का प्रयोग बिलकुल स्थानिक है। पर अब कुछ लोग शिष्ट हिन्दी में भी इसका प्रयोग करने लगे हैं। जैसे—'हमारे समुद्र पार के उपनिवेश और लौटाओ' इस अर्थ में 'और' का यह प्रयोग भी खटकनेवाला है और कुछ अवसरों पर भ्रामक हो सकता है।"

कहीं भ्रामक हो सकता है, सो वर्माजी ने नहीं बतलाया है। इतना स्वयं समझ लेना चाहिए। वर्माजी के वाक्य में 'प्रयोग भी' यह महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। आपको 'भी' बहुत प्रिय है और इसका प्रयोग भी आप बहुत दुरुस्त करते हैं। मैंने अपने इस

वाक्य में जो 'प्रयोग भी' लिखा, सो उनकी ही कृपा का फल है, यद्यपि उतना अच्छा नहीं रहा। इस अर्थ में 'और' का यह प्रयोग भी खटकना ही चाहता है। जैसी समझ बढ़ती जायगी, प्रयोग खटकता जायगा। 'और' का प्रयोग भी खटकता है, उसकी और बातें तो खटकती ही हैं। 'और कुछ अवसरों पर भ्रामक हो सकता है' यहाँ अनावश्यक समझ कर 'पर' के आगे 'तो' नहीं दिया। उसके विना भी काम चल जाता है। 'भ्रामक' के आगे 'भी' इस लिए नहीं कि उसे 'प्रयोग' के साथ बैठा दिया गया है। सब 'स्थाने प्रयोग' समझिए। अधकचरे लोग यों गलत-सलत वाक्य बनाते हैं—

"इस अर्थ में 'और' का प्रयोग खटकता है और कुछ अवसरों पर तो भ्रामक भी हो जाता है।"

वर्माजी ने 'भ्रामक हो सकता है' लिखा है, 'भ्रामक हो जाता है' की जगह। 'हो जाता है' यह साधारण बात है। 'हो सकता है'—यदि उद्योग किया जाय।

खैर, वाक्य की इन बारीकियों को कहाँ तक देखेंगे। आइए 'और' पर और विचार कर ले। वर्माजी ने लिखा है कि 'और' का प्रयोग कुछ प्रान्तीय बोलियों में 'अतिरिक्त' के अर्थ में होता है। इन बोलियों को वर्माजी 'अशिष्ट' समझते हैं। साहित्यिक ही शिष्ट होता है। 'शिष्ट हिन्दी में' अर्थात् 'साहित्यिक हिन्दी में!' जो शब्द किसी प्रान्तीय बोली में चलता है, उसे साहित्यिक हिन्दी में लाना ठीक नहीं। इसी लिए तुलसी का 'लेहिं न बासन-बसन चुराई' प्रयोग अशिष्ट है। 'बासन' निपट गँवार

(अशिष्ट) लोग बोलते हैं। साहित्यिक हिन्दी में कोई-कोई 'स्थानिक' शब्द लिये भी जाते हैं। ऐसे शब्दों की सूची अलग नहीं दी गयी है; पर वर्माजी की इबारत से आप संग्रह कर सकते हैं। स्थानीय बोलियों में प्रचलित किस शब्द को 'शिष्ट हिन्दी' में स्थान मिलना चाहिए और किसका बहिष्कार करना चाहिए, यह सब उन लोगों की भाषा से सीखो, जो परिष्कार का ध्यान रखते हैं।

'और' का जो 'अतिरिक्त' अर्थ में प्रयोग स्थानीय कई बोलियों में होता है, उसे कहीं-कहीं वर्माजी ने शिष्ट प्रयोग भी मान लिया है। 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में 'और' शब्द का विवेचन इस तरह है—

"और—अव्यय (सं० अपर) एक संयोजक शब्द। दो शब्दों या वाक्यों को जोड़ने वाला शब्द।

वि० १-दूसरा। अन्य। भिन्न।"

यों कोश में आपने 'और' का एक अर्थ—'दूसरा', 'अन्य', 'भिन्न'—भी दिया है। यहाँ दूसरा, अन्य और भिन्न ये तीनो शब्द 'अतिरिक्त' (तदतिरिक्त) अर्थ में ही वर्माजी ने दिये हैं। इनका यहाँ दूसरा अर्थ हो भी नहीं सकता। ग्राम्य या स्थानीय प्रयोगों के लिए जो चिह्न कोश में निर्दिष्ट है, उसका प्रयोग भी वर्माजी ने नहीं किया है और न लिख कर ही स्पष्ट किया है कि इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग स्थानीय अशिष्ट बोलियों में होता है। सम्भव है, कोश-निर्माण के समय वर्माजी की परिष्कार-प्रतिभा वैसी न बढ़ी हो। 'अच्छी हिन्दी' लिखते समय तो

'नवनवोल्मेष' हो रहा होगा न! इस लिए 'अतिरिक्त' अर्थ में 'और' शब्द का प्रयोग दूषित समझा गया! देखिए—

'मूल तो दे दिया, अभी व्याज और देना है'

यहाँ 'और' का प्रयोग गलत है। वर्मा-सम्प्रदाय में इसका शुद्ध-शिष्ट प्रयोग यों होगा—

'मूल तो दे दिया, अभी व्याज भी देना है।' या

'मूल तो दे दिया, इसके अतिरिक्त अभी व्याज देना है।'

कैसे सुन्दर चुस्त वाक्य हैं? संक्षेप भी मनोहर हो गया। और भी—

'सौ रुपये तो दे दिये, और क्या चाहते हो?'

यहाँ 'और' शब्द शायद भ्रामक होगा। 'और' यहाँ दोनों अंशों को जोड़ता है, या उस वर्जित 'अतिरिक्त' अर्थ में है, यह सन्देह है। लोग 'अतिरिक्त' अर्थ न समझ कर समुच्चय या संयोजक अर्थ में ही लगायेंगे, यह भ्रम। जरूर ही उलटा अर्थ समझेंगे, यह वर्माजी का मत है। इस लिए, उस वाक्य का गठन (भूल गया! 'संघटन') यों होना चाहिए—

'सौ रुपये तो दिये, इससे अतिरिक्त क्या चाहते हो?' या

'सौ रुपये तो दिये, अब इससे अतिरिक्त क्या चाहते हो?'"

इस तरह 'अच्छी' हिन्दी बन गयी। 'और क्या चाहते हो' में 'और' शब्द यदि आपके मन में खटक, सन्देह या भ्रम नहीं पैदा करता, तो समझें कि अभी आप कच्चे और अपरिपक्वमति साहित्यिक हैं। आपको कुछ पता ही नहीं। ऐसी बारीकियाँ तो विद्वज्जनों के संसर्ग से या उनकी वाणी पढ़ने-सुनने से ही धीरे-धीरे समझ सकेंगे!

वर्मा जी ने कोश में 'और' को अव्यय तो लिखा है, पर इसकी उत्पत्ति संस्कृत के 'अपर' शब्द से बतलायी है। 'और' अव्यय है, जब कि 'अपर' सर्वनाम है। सर्वनाम 'अपर' से अव्यय 'और' की उत्पत्ति असम्भावित नहीं। वैज्ञानिक लोग कुछ से कुछ पैदा कर देते हैं। फिर 'अपर' तथा 'और' में रूप-साम्य कैसा है? इससे भी तो पता चलता है कि 'अपर' से 'और' होगा! यदि चूहे से छिपकली वन गयी हो, तो क्या अचरज! खड़िया ही तो कपूर के रूप में परिणत हो जाती है। सुगन्ध भर ही तो बढ़ी! अब—उस सुगन्ध के कारण—कपूर एक दूसरी जाति का पदार्थ समझा जाने लगा; यह और बात है। (भूल गया—'अन्य' बात है, 'अतिरिक्त बात' है!) परन्तु जब कपूर का विश्लेपण किया जायगा, तब जरूर लिखा जायगा कि इसकी उत्पत्ति खड़िया से है।

यही नहीं, 'अपर' तथा 'और' में अर्थ-साम्य भी है। 'अपर' संयोजक तो नहीं है, पर इसका अर्थ 'अन्य' अवश्य है। तुलसी ने भी 'अपर कोउ' लिखा है। संस्कृत में तो 'अपरः सुधाकरः' आदि में प्रसिद्ध ही है। हाँ, यह अन्यता कुछ भिन्न प्रकार की जरूर है; सो यह कोई बात नहीं। 'अपर' का प्रयोग 'अतिरिक्त' अर्थ में होता नहीं है। 'मूल तो दे दिया है, ब्याज और देना है' में 'और' की जगह तत्सम 'अपर' नहीं दे सकते। संस्कृत में भी—

'मूलं दत्तम्, कुसीदमपि दास्यते' की जगह—

'मूलं दत्तम्, अपरं कुसीदं दास्यते'

न होगा। हाँ, 'अपि' की जगह 'च' आ सकता है—

'मूलं दत्तम्, कुसीदं च दास्यते'

यह 'च' संस्कृत में संयोजक भी है, समुच्चायक भी। इसी तरह हिन्दी में 'और' संयोजक भी है और समुच्चायक ('अतिरिक्त' या 'भी' का अर्थ देनेवाला) भी। वर्मा जी 'च' की तरह 'और' को संयोजक तो समझते हैं; पर उसकी समुच्चायकता स्वीकार नहीं करते। यह अपनी इच्छा! भेड़ ऊन भी देती है और दूध भी, सही; परन्तु यदि कोई ऊन ही ले, दूध न ले, न लेना चाहे, तो कहेगा—'भेड़ ऊन देती है, दूध नहीं। उससे दूध लेना ठीक नहीं।' कोई बैल को हल में जोतता है, गाड़ी में नहीं, तो कह सकता है कि बैल हल में ही जोता जाता है, गाड़ी में उसे जोतना 'अशिष्टता' है! बस, और अधिक क्या कहा जाय?

५६—"ठीक इसी प्रकार का खटकनेवाला और भ्रामक प्रयोग 'मना' शब्द का भी होने लगा है। साधारणतः 'मना' शब्द का वही अर्थ है, जो हमारे यहां के 'वर्जन' का है।"

यह न समझ लीजिएगा कि 'हमारे यहाँ के 'वर्जन' का है'—इससे वर्मा जी ध्वनित करते है कि 'मना' किसी दूसरे देश की भाषा का शब्द है, या दूसरे युग की हमारी भाषा का है! ऐसा नहीं। वर्मा जी 'मना' को भी हिन्दी का ही शब्द समझते है। हमारे यहाँ 'मना' भी है, और 'वर्जन' भी। प्रत्युत 'मना' अधिक चालू है। 'हमारे यहाँ' लिख कर वर्मा जी ने अपना सम्बन्ध संस्कृत से अधिक ध्वनित किया है—हमारे यहाँ=संस्कृत में। यद्यपि वे इस समय हिन्दी के बारे में लिख रहे हैं, इसलिए

'हमारे यहाँ' से—'हिन्दी में'—यह अर्थ निकलना चाहिए। वे कहना चाहते हैं—'साधारणतः हमारे यहाँ (हिन्दी में) 'मना' और 'वर्जन' सामानार्थक शब्द समझे जाते हैं।'

सम्भव है, वर्मा जी ने 'हमारे यहाँ' का प्रयोग स्थान-वैशिष्ट्य के लिए किया हो! 'हमारे यहाँ'=काशी में। काशी संस्कृत भाषा का गढ़ है। वहाँ की हिन्दी भी विशिष्ट होगी। वहाँ 'मना' की जगह 'वर्जन' अधिक चलता है। इसीलिए वर्मा जी ने सगर्व 'हमारे यहाँ' लिखा है। 'स्थानं प्रधानं न बलं प्रधानम्' और 'काशी के कंकर सब शंकर समान हैं।' वही काशी, जहाँ रह कर वर्मा जी हिन्दी का परिष्कार कर रहे हैं। यों 'हमारे यहाँ' का मतलब संस्कृत भाषा नहीं, काशी है। संस्कृत में 'मना' शब्द नहीं, 'वर्जन' ही है; इसलिए कोई-कोई 'हमारे यहाँ' का मतलब 'संस्कृत में' समझने की गलती कर बैठें, तो यह उनकी समझ का दोष। 'नहि स्थाणोरपराधो यदेनमन्धोन पश्येत्।'

आगे वर्मा जी कहते हैं—

"कुछ स्थानों में वह ('मना' शब्द) अस्वीकृति या इनकार के अर्थ में भी बोला जाता है। पर अब कुछ लोग साहित्य में भी उसका प्रयोग करने लगे हैं। जैसे—'उनसे सभापति होने के लिए प्रार्थना की गयी थी, पर उन्होंने मना कर दिया।' यहां 'मना' शब्द का ठीक अर्थ में और ठीक अवसर पर व्यवहार नहीं हुआ है।"

वर्मा जी मानते हैं कि कुछ स्थानों में 'मना' शब्द का प्रयोग 'अस्वीकृति' के अर्थ में होता है; परन्तु साहित्यिक हिन्दी में ऐसा करना ठीक नहीं। शिष्ट जन 'अस्वीकृति' के अर्थ में 'मना' शब्द

का प्रयोग करें, तो 'खटक' पैदा करता है! इसलिए कि इसका प्रयोग उस अर्थ में 'कुछ' उन स्थानों में होता है, जो शिष्ट नहीं। ऐसे अशिष्ट या गँवारू शब्द साहित्यिक भाषा में देना ठीक नहीं। हाँ, 'वर्जन' के अर्थ में आप इसका प्रयोग बराबर कर सकते हैं, साहित्यिक हिन्दी में भी। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग शिष्ट जन भी करते हैं न? किसी भी डाकखाने में जाइए, बाहर लिखा मिलेगा—'अन्दर आना मना है।' इसी तरह अन्यान्य दफ्तरों में भी 'मना है' की पटिया आप को मिलेगी। (भूल गया। 'पटियाएँ मिलेंगी'; जैसे वहाँ 'रस' का बहुवचन प्रयोग।) सो, डाकखानों में तथा अन्य दफ्तरों में जो बाबू काम करतु हैं, सब पढ़े-लिखे विद्वान्! वे ही शिष्ट हैं। उनके यहाँ जब 'मना' शब्द 'वर्जन' के अर्थ में चलता है, तो साहित्य में भी चलेगा। 'आना मना है' का अर्थ है—'आना वर्जित है।' इस तरह आप कहीं 'अस्वीकृति' के अर्थ में 'मना' की पटिया दिखा सकते है? तब फिर इसको इस ('अस्वीकृति' के) अर्थ में प्रयोग की स्वीकृति कैसे मिले? साधारण बोल-चाल में और बात है! (ओह! अन्य बात है!) बोलचाल की घिसी-घिसायी भाषा जो लोग साहित्य में प्रयुक्त करते हैं, वे कूड़ा-कचरा सरस्वती-मन्दिर में भरते हैं। 'अच्छी' हिन्दी लिखो। 'अच्छी' हिन्दी वह जिसमें ऐसे एक भी शब्द का प्रयोग न हो, जो किसी स्थानीय बोली में चलता हो!

आगे वर्मा जी पुनः विवेचन करते हैं—"अब एक और उदाहरण है। मान लीजिये कि हम कहते हैं—'वे तो मुझे भी बुलाना चाहते थे,

पर मैंने मना कर दिया।' अब आप इसका क्या अर्थ समझेंगे? यही न कि मैंने उनसे कह दिया कि तुम मुझे मत बुलाओ! अर्थात् मैंने उन्हें बुलाने से ही रोक दिया। इस वाक्य से सहसा कोई यह अर्थ नहीं समझ सकता कि मैंने स्वयं ही वहाँ जाने से इन्कार कर दिया।, ऐसी अवस्था में 'मना' शब्द का इस तरह का प्रयोग भ्रामक होगा।"

कितना स्पष्ट विवेचन है! 'अब' एक और उदाहरण है। यहाँ वर्माजी ने 'और' का प्रयोग 'अन्य' या 'अतिरिक्त' के अर्थ में किया है; सो और बात है। वैसे साधारणतः 'और' का इस अर्थ में प्रयोग मना है। 'मान लीजिए कि हम कहते हैं' में 'मान लीजिए' कितना अर्थ-पूर्ण है! वर्माजी ऐसा गलत प्रयोग कर नहीं सकते। इसी लिए 'मान लीजिए' है। 'हम कहते हैं' न होता, तो उदाहरण ही क्या रहता? जोर देने के लिए है! 'अब आप इसका क्या अर्थ समझेंगे' में 'अब' अर्थ-पूर्ण है। मतलब यह कि पिछले उदाहरण में 'मना' का अर्थ अस्वीकारात्मक समझ भी लिया हो, तो 'अब' यहाँ क्या करेंगे? वह उदाहृत वाक्य तो किसी दूसरे लेखक का था; अब हम ऐसा कहते हैं, तब समझो! काम तो अब पड़ा है! यह 'अब' का अर्थ! इस वाक्य से कोई 'सहसा' अस्वीकारात्मक अर्थ नहीं समझ सकता। गवेषणा के अनन्तर वह अर्थ उसके मन में आ जाय, तो दुर्भाग्य! समझ का फेर! आपकी समझ में क्या आया? 'सहसा' कौन सा अर्थ मन में आया?

असल बात यह है कि हिन्दी-'शब्दसागर' के संक्षिप्त संस्करण में वर्माजी ने 'मना' शब्द का अर्थ 'वर्जन' और 'निषेध'

ही लिखा है, 'अस्वीकार करना' नहीं। तब फिर हिन्दी-साहित्य में इसके विपरीत कैसे हो! कोई 'अस्वीकार' अर्थ में 'मना' शब्द का प्रयोग कर दे, और वह अप्रचलित होने के कारण समझ में न आये, या भ्रम उत्पन्न हो जाय और पाठक इस 'कोश' को खोले, इसमें 'मना' शब्द का अस्वीकारात्मक अर्थ उसे न मिले, तो क्या होगा? या तो वह 'मना' जिसमें है, वह साहित्य ही व्यर्थ जायगा, या फिर इस 'कोश' की प्रतिष्ठा जायगी। 'कोश' की प्रतिष्ठा तो हिन्दी की प्रतिष्ठा का सवाल है। इस लिए, उस अर्थ में 'मना' शब्द का प्रयोग मना समझिए। 'मना करना' का अर्थ 'अस्वीकार करना' कोश में लिखा ही नहीं है!

हाँ, वर्माजी ने अपने 'कोश' में 'मनाना' का अर्थ देते हुए लिखा है—"मनाना—स्वीकार कराना, रूठे हुए को मनाना।" हम लोग तो 'मनाने' का वही अर्थ समझते हैं, जिसे वर्माजी ने दूसरा स्थान दिया है। जिसे उन्होंने प्रथम स्थान दिया है—'स्वीकार कराना'—सो हम लोग भूले ही बैठे हैं! 'मैं तुम से यह बात मना लूंगा', वर्माजी के कोश के अनुसार अर्थ होगा—'मैं तुम से यह बात स्वीकार करा लूंगा, आप भले ही ऐसा न बोलें, पर सुदूर मदरास आदि प्रान्तों के हिन्दी-प्रेमी जरूर वैसा लिखेंगे। हम लोग तो स्थानीय बोलियों के चक्कर में पड़े हैं, जहाँ 'मनाना' की जगह 'मनवाना' जैसा अशिष्ट गँवारू प्रयोग होता है! 'मैं तुम से यह बात मनवाये बिना न मानूँगा' कितना भद्दा है! 'कोश' के अनुसार होना चाहिए—

'मैं तुम से मनाये बिना न मानूँगा।' 'तुम्हें मनाये बिना न मानूँगा' यह भी ठीक है। रूठे हुए को मनाना भी इसका अर्थ है; सो यह और बात है। 'तुम्हें मनाना मेरा काम'— 'तुम्हें मनवाना' या 'तुम्हें स्वीकार कराना' दोनों अर्थ हो सकते हैं। श्लेष समझ लो! वर्माजी ने 'मना' को विशेषण माना है, जब कि और लोग अव्यय समझते हैं! वर्माजी के अनुसार 'मना पंखा मत लो' (निषिद्ध पंखा मत लो) और 'मने पंखे मत लाओ' (वर्जित पंखे मत लाओ) प्रयोग ठीक है।

अधिक गड़बड़ में पड़ना ठीक नहीं। संक्षेप यह है कि 'मना' शब्द का 'अस्वीकृति' के अर्थ में प्रयोग करना ठीक नहीं; क्योंकि स्थानीय बोलियों में वैसा होता है।

६०—'सहित' और 'के साथ' आदि का भी हिन्दी में बिना समझे बूझे प्रयोग होता है। जैसे 'आपकी पुस्तक धन्यवाद सहित लौटाता हूँ'। 'वे धैर्य के साथ अपना काम कर रहे हैं।' कोई चीज धन्यवाद सहित लौटाने का सीधा-सादा अर्थ यही होता है कि उसके साथ 'धन्यवाद' भी मिला या लौटाया जा रहा है।"

इसी तरह वर्माजी कहते हैं—'वे लगन के साथ देश की सेवा कर रहे हैं' आदि में 'के साथ' का प्रयोग दूषित और त्याज्य है।'

मतलब यह है कि क्या वे सेवा के साथ 'लगन' भी कर रहे हैं? काम के साथ 'धैर्य' भी किया जाता है क्या?

क्या समझे? संस्कृत से शायद यह गलती हिन्दी में आयी है! वहाँ 'सह' 'सहित' के अर्थ में चलता है। 'रामेण सह सीता'—राम के साथ सीता। समास में 'सरामा सीता'—राम

के साथ सीता। 'सलक्ष्मणः रामः वनं गतः'—लक्ष्मण के सहित राम वन गये। यह तो ठीक। परन्तु वहाँ—

'दशरथः सस्नेहं राममपश्यत्'

—दशरथ ने स्नेह के साथ राम को देखा।

और—

'रामः सहर्षं फलानि अभुङ्क्त'

—राम ने खुशी के साथ फल खाये।

ऐसे प्रयोग भी होते हैं! क्या 'स्नेह' को भी देखा? और 'हर्ष' को भी राम ने फलों के साथ खा लिया?

कहा जाता है, ऐसे स्थलों पर ये शब्द क्रिया-विशेषण हैं, (संज्ञा आदि के) विशेषण नहीं। इस लिए कोई भ्रम नहीं, परन्तु वर्माजी के मत में ऐसा कथन गलत समझा जायगा, भ्रम बढ़ेगा; इस लिए ऐसे प्रयोग त्याज्य हैं। आचार्य द्विवेदी आदि ने जो उस ढंग के प्रयोग किये हैं, सो इस लिए कि उस समय तक हिन्दी का वैसा विकास न हुआ था। विवेचना तो अब हो रही है न! नियम तो नियम ही रहेगा। 'भाषा का प्रवाह ऐसा है' यह कहकर आप पिंड न छुड़ा सकेंगे। गलत प्रवाह बदलना पड़ेगा। ठीक प्रवाह चलेगा, वैज्ञानिक पद्धति पर!

६१—'इसी प्रकार 'उन्होंने अपनी पुस्तक के द्वारा खूब प्रसिद्धि पाई थी' में 'के द्वारा' का प्रयोग भी दूषित और त्याज्य है।"

कैसा प्रयोग करना चाहिए, यह वर्माजी ने नहीं लिखा है! क्यों ऐसा न होना चाहिए, इसमें कारण जरूर लिखा है—

'यहां हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि यह 'के साथ' अंग्रेजी के 'विद्' (with) से और 'के द्वारा' अंग्रेजी के 'थ्रू' (through) से आता है और हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है ।"

'आता है' वर्तमान काल की क्रिया इस लिए कि ऐसा प्रयोग बराबर वहां से आ रहा है। साधारण हिन्दी में लिखा जायगा—'आया है'।

हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है ; क्योंकि अंग्रेजी से 'आता है'। जो चीज और कहीं से आये, वह प्रकृति-विरुद्ध कही ही जायगी। वैसे लोग समझते हैं कि जो चीज हजम न की जा सके और जिससे कुछ विकार पैदा हो, वह 'प्रकृति-विरुद्ध'! परन्तु वर्माजी का मत है कि जो चीज बाहर से आये, वह प्रकृति-विरुद्ध और त्याज्य ! गंगा जी पहले हमारे यहाँ (काशी में) न थीं। यह नदी हिमालयसे निकल कर उधर तिब्बत आदि कहीं जाती थी। बाद में इधर आ गयी ! वस्तुतः यह अपनी चीज नहीं और इस देश की प्रकृति के विरुद्ध है, फलतः त्याज्य है। डायरी और फाउण्टेन पेन हमारे यहां विलायती नकल पर आयी चीजें हैं, जो भारतीय संस्कृति की प्रकृति के विरुद्ध हैं, इस लिए त्याज्य है। क्यों प्रकृति-विरुद्ध हैं ? इसलिए कि ये चीजें बाहर की हैं ! जो लोग समझते हैं कि ये सब चीजें बाहर की हैं, उन्हें खटकती है ! जिन्हें पता नहीं उन्हें खटक भी नही ! परन्तु अब तो वर्माजी ने बता दिया है कि कौन चीज कहाँ से आयी ! अब तो इनका प्रयोग छोड़ देना चाहिए ! आप कहें कि हमें तो वैसे प्रयोग ठीक जान पड़ते हैं, कोई 'खटक' नहीं जान पड़ती,

तो यह आप की कमजोरी कही जायगी। आप भाषा की 'प्रकृति' नहीं पहचानते!

'द्वारा' शब्द पर वर्माजी ने 'कोश' में लिखा है कि यह अव्यय है और संस्कृत के 'द्वारात्' शब्द से निकला है। संस्कृत के मामूली पण्डित कहा करते हैं कि 'द्वार' की तरह 'द्वार्' शब्द भी है और इस (द्वार्) शब्द का करण-कारक में (संस्कृत में) रूप बनता है—'द्वारा', 'कृपा' से 'कृपया' की तरह। यही तृतीयान्त रूप ज्यों का त्यों (तत्सम) ठीक उसी अर्थ में हिन्दी ने ग्रहण कर लिया है। वर्मा जी 'द्वार्' शब्द नहीं मानते और करण में—संस्कृत भाषा में—पंचमी विभक्ति ठीक समझते हैं! इसलिए वे 'द्वारा' नहीं 'द्वारात्' सही समझते हैं और उससे बना तद्भव रूप हिन्दी में यह 'द्वारा' है। इसका 'त्' घिस कर अलग हो गया, जैसे आदमी की पूँछ गायब हो गयी हैं। वर्माजी डार्विन-वादी हैं, रूढ़िवादी नहीं।

६२—"आज कल कुछ लोग ऐसे स्थलों पर भी अँग्रेजी के 'बिकाज' (because) के कारण 'क्योंकि' का प्रयोग करते हैं, जहां केवल 'कि' का प्रयोग होना चाहिए। जैसे—

१—मैं इसीलिये बोला, क्योंकि मैं समझता था वैसे काम न चलेगा।

२—पाँच व्यक्तियों को इस कारण कारावास का दण्ड मिला, क्योंकि उन्होंने धोखा देनेका अपराध किया था।

३—मैं इसीलिए वहां नही गया था, क्योंकि वहां झगड़े का डर था।

४—पैसा इसलिए नहीं है। क्योंकि लोग बे-रोजगार हैं।"

इन वाक्यों में 'क्योंकि' क्यों गलत है और 'कि' क्यों ठीक है, इस पर वर्माजी ने कोई विवेचन नहीं किया है। सूत्र-रूप में बात कह गये हैं। उनका मतलब यह है कि इन वाक्यों में जब कि 'इसी लिए', 'इस कारण', 'इस लिए' शब्द आ गये, तब फिर आगे 'क्योंकि' देने से 'पुनरुक्ति' दोष आ जायगा, भाषा बिगड़ जायगी। यदि 'क्योंकि' हटा कर केवल 'कि' दे दें, तो भाषा चुस्त हो जायगी और जोर बढ़ जायगा। 'प्रसाद' गुण छहरने लगेगा। देखिए—

१—मैं इसी लिए नहीं गया था कि वहाँ झगड़े का डर था।

२—पैसा इस लिए नहीं है कि लोग बे-रोजगार हैं।

३—पाँच व्यक्तियों को इस कारण कारावास मिला कि उन्हों ने धोखा दिया था।

४—मैं इस लिए वहाँ नहीं गया कि झगड़े का डर था।

कैसे सुन्दर और प्रवाह-पूर्ण वाक्य बन गये? इसी को 'भाषा की प्रकृति' कहते हैं। इसे पहचानिए।

लोगोंके भ्रम का कारण क्या है, सो वर्माजी ने नहीं बताया; पर स्पष्ट है। साधारण लोग समझते हैं कि 'लिए' अव्यय का प्रयोग प्रायः फल-निर्देश के लिए होता है और 'क्योंकि' आता है 'कारण' बतलाने के लिए। जैसे—

१—मैं धन के लिए कलकत्ते गया।

२—धन सम्मान के लिए होता है।

३—अन्न पैदा करने के लिए भगवान् वर्षा करते हैं।

धन, सम्मान तथा अन्न का पैदा करना ऊपरके वाक्यों में 'फल' हैं। कारण-रूप से 'कलकत्ते जाना', 'धन का होना', 'वर्षा करना' रखे गये हैं। 'क्योंकि' फल नहीं, कारण प्रकट करता है—

१—मैं तब कलकत्ते गया, क्योंकि मुझे धन चाहिए था।

२—धन लोग इसलिए कमाते हैं, क्योंकि उससे सम्मान मिलता है। (वर्माजी के मत में—'कि उससे... !)

३—भगवान् वर्षा इसलिए करते हैं, क्योंकि उससे अन्न पैदा होता है। (वर्मा जी चाहते हैं—'कि उससे... ।)

फल-निर्देश से काम चल जाता है और कारण दे देने से भी। कभी-कहीं दोनों का भी प्रयोग साथ-साथ होता है—"भगवान वर्षा इसलिए करते हैं, क्योंकि इससे अन्न पैदा होता है।"

फल को भी यदि हेतु-रूप में देना हो, तब भी 'क्योंकि' आयेगा—'मैं वगीचे इसलिए जाता हूं, क्योंकि वहाँ से मुझे पुष्प लाने होते है।'

इस तरह कारण के साथ फल का निर्देश स्वाभाविक है। परन्तु वर्मा जी कहते हैं कि 'लिए' अव्यय फल-निर्देश के लिए नहीं, 'कारण' वतलाने के लिए ही आता है, और 'क्योंकि' अव्यय भी उसी अर्थ का है। ऐसी दशा में दोनो का एक वाक्य में प्रयोग ठीक नहीं! तो 'लिए' फल का निर्देश करता है या कारण का, इसका पता कैसे चले? 'संक्षिप्त हिन्दीशब्द-सागर' में लिखा है कि "यह 'लिए' हिन्दी का एक 'कारक-चिह्न' है।" कारक-चिह्न माने विभक्ति। जैसे का, ने, से आदि कारक-चिह्न हिन्दी के है, उसी तरह 'लिए' भी! और लोग 'लिए' को कारक-चिह्न

(विभक्ति) नहीं, एक अव्यय समझते हैं। यह तादर्थ्य या फल-निर्देश में आता है—'वास्ते' की तरह। 'का' विभक्ति इसके साथ लगती है—'विद्या के लिए' आदि। विभक्ति के साथ विभक्ति यहाँ नहीं है, 'लिए' विभक्ति नहीं है, ऐसा जो लोग कहते हैं, वे संस्कृत के 'कृते' से प्रभावित हैं। वहाँ 'बालकानां कृते एतानि फलानि' (ये फल बालकों के लिए हैं) में 'कृते' विभक्ति नहीं, अव्यय है, जो 'बालकानाम्' से सम्बद्ध है। सो यह धारा संस्कृत की नकल पर यहां आयी है और हिन्दी की प्रकृति के शायद विरुद्ध है। इसी लिए वर्माजी ने 'कोश' में इसे 'अव्यय' न लिख कर एक 'कारक-चिह्न' लिखा है। अब अर्थ देखिए। वर्माजी ने 'कोश' में इसका अर्थ लिखा है—"यह ('लिए') जिस शब्द के आगे लगता है उसके अर्थ या निमित्त किसी क्रिया का होना सूचित करता है ; जैसे 'उसके लिए'।"

वर्माजी कहते हैं कि उसके निमित्त क्रिया का होना सूचित करता है। यह फल ही तो है। कारण तो है नहीं! सो, कोश-ग्रन्थ में 'लिए' को कारण-निर्देशक नहीं, फल-निर्देशक स्वीकार किया गया है ; (भले ही वह कारक-चिह्न हो)। परन्तु 'अच्छी हिन्दी' में आप 'लिए' को शायद 'कारण-निर्देशक' समझते हैं और इसी लिए उसकी उपस्थिति में दूसरे वैसे शब्द 'क्योंकि' का विरोध करते हैं। या तो विचार बदल गया है और या फिर परिष्कार की कोई विशेष बात है।

यह भी सम्भव है कि फल का निर्देश होने पर कारण-निर्देशक कोई शब्द खटकता हो। आप कहेंगे कि 'इस लिए' फल-

निर्देश के लिए है और 'इस कारण' भी वैसा ही है, यह ठीक। परन्तु 'कि' भी तो उसी कामके लिए देखी जाती है—

१—भगवान् ने पानी बरसाया कि नाज पैदा हो।

२—मैंने विद्या पढ़ी कि सुख से जीवन बीते।

यहां 'कि' फल-निर्देश ही तो करता है। तब 'इस लिए' और 'कि' ये दोनो फल-निर्देशक साथ-साथ कैसे रहेंगे? क्या काम चल जायगा?

आप की शङ्का का समाधान वर्माजी की ओर से यह है कि 'इस लिए' आदि के साथ 'कि' को कारण-निर्देशक समझ लीजिए और उपर्युक्त उदाहरणों में फल-निर्देशक! कुछ भी हो, वैसे स्थलों में 'क्योंकि' का प्रयोग गलत और केवल 'कि' का ठीक है, जहाँ वर्माजी ने वैसा लिखा है। वस्तुस्थिति यह है। वर्माजी के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण हिन्दी-संसार 'मैं इसलिए गया, क्योंकि पिताजी ने आज्ञा दी थी' इत्यादि वाक्य ठीक समझता है। 'इस लिए' फल है, जिसे हेतुमान् भी कह सकते हैं। हेतु और हेतुमान् का सह-अवस्थान है। पिताजी का कहना 'हेतु' है और मेरा जाना 'हेतुमान्'।

और देखिए—

१ मैं भोजन न करूँगा, मेरे पेट में दर्द है।

२ मैं भोजन न करूँगा, क्योंकि मेरे पेट में दर्द है।

३ मैं भोजन इसलिए न करूँगा, क्योंकि मेरे पेट में दर्द है।

तीनो वाक्य ठीक हैं। प्रथम वाक्य में पूर्वार्द्ध में 'हेतुमान्' है और उत्तरार्द्ध में 'हेतु'। इसे यों भी कह सकते हैं—'मेरे पेट

में दर्द है, भोजन न करूँगा।' अन्तर यह आ जायगा कि 'पेट का दर्द' प्रधानता ले लेगा। दर्द पर जोर आ जायगा। यदि दर्द की अधिकता न व्यक्त करनी हो और साधारणतः भोजन-निषेध में ही तात्पर्य हो, तो उस सहेतुक-वाक्य में उस (भोजन-निषेध) को ही पहले देना चाहिए, जैसा कि ऊपर दिया है।

दूसरे वाक्य में 'क्योंकि' दे कर हेतु स्पष्ट कर दिया गया है। बस, और कुछ नही।

तीसरे वाक्य में 'इसलिए' भी है, हेतुमान् के साथ। इसे देने से हेतु या कारण पर जोर आ जाता है। मतलब यह निकलता है कि मेरे भोजन न करने का कारण पेट का दर्द है, और कुछ नहीं। 'क्योंकि' से 'क्यों' हटाकर केवल 'कि' दी जाय तो वह कारण या हेतु का निर्देश न कर सकेगी—

'मैं भोजन न करूँगा कि पेट में दर्द है।'

कारण यह कि इसमें वह शक्ति नहीं। 'इसलिए' के साथ भी—'मैं भोजन इस लिए न करूँगा कि मेरे पेट में दर्द है'। कहाँ वह बात आयी? हाँ, फल-निर्देश में स्पष्टता जरूर इससे आ जायगी—

'मैं विद्या इसलिए पढ़ता हूं कि आगे जीवन में सुख मिले।' कारण-निर्देश केवल 'कि' से न होगा—

'मैं इसलिए लड़के को अंग्रेजी नहीं पढ़ाता कि इससे वह बेकार हो जायगा, ठीक नहीं। 'मैं इसलिए अंग्रेजी नहीं पढ़ता क्योंकि इससे. .ठीक होगा।' 'इसलिए' फल-निर्देशक है, जो

कारण को पुष्ट करता है। 'इसलिए; क्योंकि बेकार।' दूसरा कारण नहीं। यह साधारण प्रकार है।

६३—"बहुत से लोग 'कारण' और 'हेतु' में कोई अन्तर नहीं समझते। यह ठीक है कि 'हेतु' का एक अर्थ 'कारण' भी होता है, ('होता है,—यानी 'है' !), पर उसका (इसका ?) वह अर्थ (यह अर्थ ?) गौण है। 'हेतु' का मुख्य अर्थ है—'वह उद्देश्य जिससे कोई कार्य किया जाय।' कोई कार्य करने का प्रेरक भाव या अभिप्राय ही मुख्यतः 'हेतु' कहलाता है।" वर्मा जी के कथन का तात्पर्य यह है कि 'फल' को ही मुख्यतः 'हेतु' कहते हैं, 'कारण' को नहीं।

आगे विवेचन है—"एक समाचारपत्र में एक जज की सम्मति इस रूप में छपी थी—'हर तीसरा विचाराधीन मामला या तो गुजारे की नालिश का होता है और या उसका हेतु प्रायः पति-पत्नी का विग्रह होता है।' यहां 'हेतु' शब्द 'कारण' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो ठीक नहीं है। इस वाक्य की रचना से यह आशय निकलता है (निकल सकता है, ऐसा नहीं, निकलता ही है) कि हर तीसरे मामले का उद्देश्य ही यह होता है कि पति और पत्नी में विग्रह हो! अर्थात् दोनों में लड़ाई कराने के लिए ही कोई मामला खड़ा किया जाता है। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। पति-पत्नी में विग्रह पहले होता है और तब उस विग्रह के कारण अदालत में मामला जाता है। अतः उक्त वाक्य में 'हेतु' के स्थान पर 'कारण' होना चाहिए था।"

सब समझ गये न? 'हेतु' का एक अर्थ 'कारण' होता है सही; पर मुख्य अर्थ फल-निर्देश ही है; और जब कोई 'कारण' के अर्थ

में इस शब्द का प्रयोग कर देगा, तो उससे वह (कारण का) अर्थ न निकल कर 'फल' का ही अर्थ निकलेगा ; जैसे ऊपर के मामले में 'विग्रह के लिए' अर्थ निकला ! वह 'गौण अर्थ' भी कहीं काम देने का नहीं। यह मतलब !

'तुम्हारे यहां आने का हेतु क्या है ?'

यहां 'हेतु' का प्रयोग किस अर्थ में है ? आप कहेंगे कि 'कारण' के अर्थ में। हम कहेंगे 'फल' का निर्देश यहां इससे है—आने का प्रयोजन क्या है ? कौन-सा अर्थ ठीक है ? क्या झमेले की बात है ! चलो, छोड़ो इसे !

६४—"एक और शब्द है जिसका बहुत अधिक भ्रमपूर्ण प्रयोग देखने में आता है। वह शब्द है 'बड़ा'। यह शब्द 'विशेषण' है, पर जिसे देखो, वह इसका व्यवहार क्रिया विशेषण के रूप में ही करता है।"

यानी जो विशेषण हैं, मतलब संज्ञा-विशेषण, उनका प्रयोग क्रिया-विशेषण के रूप में करना बड़ी गलती है। 'बहुत' संख्या और परिणाम बताने वाला विशेषण है—'बहुत आदमी जमा हैं' और 'बहुत दूध है' इत्यादि। परन्तु इसका प्रयोग क्रिया-विशेषण की तरह लोग करते हैं और भाषा बिगाड़ते हैं—'मैंने बहुत पढ़ा', 'तुम बहुत लिख चुके'। यहां 'बहुत' का प्रयोग क्रिया विशेषण की तरह है, जो गलत है। कारण, यह तो संज्ञा-विशेषण है। लोग समझते हैं कि शब्द तो एक साधन है, चाहे जब, चाहे जो काम ले लो ! एक ही शब्द संज्ञा-विशेषण और क्रिया-विशेषण की तरह प्रयुक्त करने की गलती कर दी जाती है।

'अच्छा' विशेषण है। 'अच्छा लड़का', 'अच्छी लड़की'। परन्तु इसका प्रयोग भी क्रिया-विशेषण की तरह हिन्दीवाले करते रहते हैं—'लड़कियों ने अच्छा गाया' और 'तू अच्छा पढ़ती है' इत्यादि। वर्मा जी यह सब गलत समझते हैं। 'अच्छा' की जगह वे शायद 'खूब' देना पसन्द करेंगे और इसे शुद्ध समझेंगे; क्योंकि यह 'खूब' शब्द संज्ञा-विशेषण नहीं बन सकता। इस लिए 'खूब पढ़ती है' और 'खूब गाया' आदि प्रयोग करना चाहिए। लेखकों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

हाँ, अब उस शब्द पर आइए, जिसके लिए यह भूमिका है। वर्माजी कहते हैं—"'वह बड़ा चालाक है।' 'इस काम में बड़ा लाभ है।' 'आपने बड़ा अच्छा काम किया।' 'उससे हमें बड़ा सहारा मिला।' 'वहाँ बड़ा भारी भूकंप आया।' 'वे बड़े भारी कवि थे।' आदि अनेक प्रयोग नित्य सामने आते हैं। इन सभी अवस्थाओं में 'बड़ा' की जगह 'बहुत' होना चाहिए।"

'सभी वाक्यों में' नहीं, 'सभी अवस्थाओं में'। प्रयोग वैशिष्ट्य है! क्यों 'बहुत' होना चाहिए? क्योंकि यह ('बहुत') संज्ञा-विशेषण नहीं, क्रिया-विशेषण है। 'बड़ा' इस लिए न चाहिए, क्योंकि यह 'संज्ञा-विशेषण' है; जब कि उपर्युक्त उदाहरणों में क्रिया की विशेषता प्रकट करने के लिए आया है!

साधारण लोग इन उदाहरणों में 'बड़ा' को संज्ञा-विशेषण समझेंगे—'बड़ा चालाक', 'बड़ा लाभ', 'बड़े कवि' और 'यह पुस्तक बड़ी सुन्दर है'। वर्मा जी द्वारा उद्धृत इन वाक्यों में

'बड़ा', 'बड़े' और 'बड़ी' संज्ञाओं के विशेषण जान पड़ते हैं। पर हैं नहीं। हैं ये क्रिया-विशेषण। यद्यपि किसी-किसी व्याकरणकार ने लिख दिया है कि क्रिया-विशेषण सदा पुल्लिंग-एकवचन रहता है। पर व्याकरण तो 'लंगड़ाता हुआ और घसिटता हुआ' भाषा के पीछे चलता है। वर्माजी कहते हैं कि यहां 'बड़ा', 'बड़े' और 'बड़ी' क्रिया-विशेषण हैं, तब वैसा मानना ही पड़ेगा और यहां 'बड़ा' का प्रयोग गलत ही होगा! ध्यान रहे! 'बड़े भारी कवि थे' की जगह 'बहुत भारी कवि थे' लिखा जायगा, तो चमत्कार भी कितना बढ़ जायगा?

६५—"हिन्दी में एक और प्रकार के युग्म शब्द होते हैं, जिनमें परस्पर नित्य-सम्बन्ध रहता है। यदि उनमें से एक शब्द पहले किसी वाक्यांश में आवे, तो उसके बादवाले वाक्यांश में उसके जोड़ का दूसरा शब्द रखना भी आवश्यक होता है।"

'है' और 'होता है' की विशेषता सर्वत्र दर्शनीय है। 'शब्द रखना भी' में 'भी' 'शब्द' के साथ न रख कर 'रखना' के साथ रखने का भी रहस्य है। परन्तु अब आगे हम वर्माजी की इबादत के ऐसे प्रयोग-चमत्कारों का निर्देश न करके केवल विवेचनाओं का खुलासा करेंगे। इस छोटी-सी पुस्तक में सब कुछ लिख दिया जाय, यह कैसे सम्भव है!

आगे वर्मा जी कहते हैं—"'चाहे आप नाराज हो जायँ, मैं यह बात नहीं मान सकता।' इस प्रकार के वाक्यों में खटक होती है। अतः नित्य सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग करते समय लेखकों को बहुत सावधान रहना चाहिए।"

बारीक बात है, समझने की जरूरत है। दोनो तरह के वाक्य एक साथ रख कर देख लीजिए—

'चाहे आप नाराज हो जायँ, मैं यह बात नही मान सकता।'

'चाहे आप नाराज हो जायँ, पर मैं यह बात नहीं मान सकता।'

दूसरे वाक्य में 'पर' लगा देने से वाक्य जैसे उड़ने लगा! प्रथम वाक्य में 'पर' कट जाने से वह लुञ्ज-पुञ्ज पड़ा है, कुछ जोर नहीं! भद्दा लगता है। इस लिए जोड़े के शब्दों का ध्यान रखना चाहिए। सावधान रहना चाहिए। लोग समझते हैं कि पहले वाक्य में 'चाहे' आने पर दूसरे वाक्य में 'पर' न भी दो, तो हर्ज नहीं, काम चल जाता है। यही सोच कर वैसे प्रयोग लोग कर देते हैं, करते रहते हैं! एक प्रवाह चल रहा है! यह गलती बहुत पुरानी है और अचरज की बात है कि 'वाग्देवतावतार' श्री मम्मट भट्ट, आदि ने इस 'गलती' को गलती न समझने की गलती की है! यही नहीं, उन लोगों ने ऐसे अंग-भंग-प्रयोगों को ठीक और शुद्ध बतलाने को भी गलती की है। अभी तक वही प्रवाह चल रहा है, जिसे रोकने की चेष्टा वर्माजी कर रहे हैं! मम्मट ने लिखा है कि 'यत्' और 'तत्' जैसे नित्य-सम्बन्धी शब्दों का सह-प्रयोग होता है, पर कहीं-कहीं छूट भी है, उस नियम का अपवाद भी है। उन्होंने लिखा है कि यदि उत्तर-वाक्य में 'यत्' हो, तो वह निराकांक्ष रहता है। तब यह जरूरी नहीं कि उसके साथ—पूर्व-वाक्य में—'तत्' का प्रयोग आवश्यक हो। फलतः—

'आगतस्तत्र छात्रः, यः पूर्वमपठन्न्यायम्।'

ठीक है। 'छात्र आ गया वहाँ, जो पहले न्याय पढ़ता था।' यहाँ पूर्व वाक्य में 'सः' न देने से गलती नहीं। दे दें, तो हर्ज भी नहीं—

'आगतस्तत्र स छात्रः, यः पूर्वमपठन्न्यायम्।'

—वह छात्र वहाँ आ गया, जो पहले न्याय पढ़ता था। यदि पूर्व-वाक्य में 'यः' कर दें, तब उत्तर-वाक्य में 'सः' जरूरी हो जायगा, उसके बिना काम न चलेगा—

'यश्छात्रो न्यायमपठत्, तत्र आगतः।'

यह गलत होगा। उत्तर-वाक्य में 'सः' अवश्य देना होगा। 'स तत्र अगतः' ठीक होगा। यों कहीं-कहीं जोड़े वाले शब्दों के सहावस्थान का बन्धन शिथिल स्वीकार है। हिन्दी में संस्कृत से विपरीत प्रवाह है। यहाँ पूर्व-वाक्य में यदि 'जो' अवस्थित हो, तो उत्तर-वाक्य में वह उतना जरूरी नहीं रहता; उसके विना भी काम चल जाता है, बल्कि कहीं-कहीं उसकी गैर-हाजिरी ही अच्छी लगती है। उदाहरण के लिए—

१—जब कि मैं आ ही रहा था, उनका पत्र मिला।

२—जो जैसा करेगा, खुद भुगतेगा।

३—मैंने जो कुछ देखा, आप से निवेदन कर दिया।

४—जैसे-जैसे देश शिक्षित होता जायगा, गुरुडम स्वतः दूर हो जायगा।

५—जहाँ भी अपराधी होंगे, तुरन्त पकड़ लिये जायँगे।

६—जब तक मैं न आऊँ, यहीं बठे रहना।

वर्मा जी ऐसे वाक्यों को गलत कहते हैं ! कहते हैं, जरूरत नहीं, तो भी उत्तर-वाक्यों में जोड़ी रखनी ही चाहिए और शुद्ध वाक्य यों चाहिए—

१—जब कि मैं आ ही रहा था, तब उनका पत्र मिला।

२—जो जैसा करेगा, वह खुद वैसा भोगेगा।

३—मैंने जो कुछ देखा, वह सब आप से निवेदन कर दिया।

४—जैसे-जैसे देश शिक्षित होता जायगा, गुरुडम वैसे ही वैसे स्वतः दूर होता जायगा।

५—जहाँ भी अपराधी होंगे, वहाँ वे तुरन्त पकड़ लिये जायेंगे।

६—जब तक मैं न आऊँ, तब तक तुम यहीं बैठे रहना।

देखिये, वाक्य अब कितने सुन्दर हो गये हैं ! इसी तरह वर्माजी के मत में—

'चाहे आप नाराज हो जायँ, मैं यह बात नहीं मान सकता' वाक्य में 'चाहे' के मुकाबले में 'पर' या 'परन्तु' अवश्य दिया जाना चाहिए, तब वाक्य शुद्ध होगा ; इस तरह—

'चाहे आप नाराज हो जायँ, परन्तु मैं यह बात नहीं मान सकता।'

हिन्दी में जो कुछ चल रहा है, वर्माजी उसे बदलना चाहते हैं। यही भाषा-परिष्कार है। शब्द की कमी खटकती है, भले ही उसके बिना काम चल जाय। ध्यान में जमा लेना चाहिए। वर्माजी सावधान करते हैं—"इस प्रकार के वाक्यों में भी खटक होती है। अतः नित्य-लेखा-सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग करते समय लेखकों को बहुत सावधान रहना चाहिए।"

६६—"हिन्दी और संस्कृत में उतना अधिक वैषम्य नहीं है, जितना हिन्दी और अरबी-फारसी में।" यानी हिन्दी और संस्कृत में भी वैषम्य है; यद्यपि उतना नहीं!

आगे 'समास' की विवेचना है, और वर्माजी ने बहुत जोर देकर कहा है कि 'सङ्कर' समास नहीं होना चाहिए; अर्थात् हिन्दी-शब्दों का समास संस्कृत शब्दों के साथ न होना चाहिए और अरबी-फारसी आदि भाषाओं के शब्दों के साथ तो कतई नहीं। परन्तु कुछ समासों में आपने छूट दी है और लिखा है—"रण और खेत तथा पूँजी और पति ऐसे शब्द हैं जो आपस में किसी तरह मिल सकते हैं।" अर्थात् 'रण' संस्कृत शब्द का 'खेत' हिन्दी-शब्द के साथ समास हो सकता है और 'पूँजी' हिन्दी शब्द के साथ 'पति' संस्कृत शब्द का। यहाँ उतनी खटक नहीं है कि समास में अटक हो। वर्माजी की इस उदारता के लिये धन्यवाद।

परन्तु 'रण' का 'खेत' के साथ समास हमें तो बहुत ज्यादा खटकता है; क्योंकि ऐसा सुनने का कानों को अभ्यास नहीं! जो न होता हो, वही खटक पैदा करता है, अचानक आकर। साहित्य में 'रण' के साथ 'क्षेत्र' संस्कृत शब्द ही आया करता है—'रण-क्षेत्र'। 'रण-खेत' तो अजनबी सा लगता है! हाँ केवल 'खेत' का प्रयोग जरूर अभ्यस्त है—'हमारा सेनापति खेत रहा', 'खेत हमारे हाथ रहा' इत्यादि। भाषा में जो प्रायः न होता हो, वही कहीं आकर खटकता है। उसे ही 'गलती' कहा जाता है। चन्द्रमा के लिए 'शशाङ्क' की तरह 'मृगाङ्क' होता है; पर 'शशी' की तरह 'मृगी' नहीं होता; यद्यपि 'संस्कृत-व्याकरण'

इसमें बाधक नहीं है ! 'मृगी' क्यों नहीं होता है, संस्कृत ने इसे क्यों नहीं ग्रहण किया, यह एक दूसरा विषय है। आप इतना ही समझ लें कि नहीं होता है। अब यदि कोई 'उदेति मृगी नभसि' लिखे, तो गलत समझा जायगा ; यद्यपि 'व्याकरण' से ठीक है। इसी तरह 'रण-खेत' हिन्दी को ग्राह्य नहीं है। यह मेरे-जैसे साधारण लोगों का विचार है। वर्माजीने इसका परिष्कार किया है कि 'रण-खेत' में समास हो सकता है ; क्योंकि इसमें वैसी खटक नहीं कि बन्धन लगाया जाय। हां 'पूँजीवाद' जैसे शब्द वर्माजी को खटके हैं और यहाँ आपने समास-निषेध किया है ! यह आपने नहीं बताया कि 'पूँजीवाद' या 'पूँजीवादी मनोवृत्ति' की जगह कैसा, या किस शब्द का प्रयोग करना चाहिए ! जब कि 'पूँजीपति' हो सकता है, तब 'पूँजीवाद' क्यों नहीं, इसका भी स्पष्टीकरण नहीं किया गया है ! शायद 'वाद' शब्द में कुछ विशेषता है और इसी लिए वे इसे अलग रखना चाहते हैं। हिन्दी में वैसे ही बहुत 'वाद' आकर भर गये हैं ! 'वाद' का बहिष्कार सम्भवतः जरूरी समझ कर ही वर्मा जी ने 'पूँजी' के साथ इसके समास का निषेध किया है। इस लिए—

'पूँजीवाद' गलत समझा जाय और इसकी जगह 'सम्पत्ति-वाद' या 'अर्थवाद' आदि शुद्ध शब्दों का प्रयोग किया जाय ! यद्यपि इन शब्दों से वह अर्थ अभी निकलता नहीं है और 'अर्थ-वाद' तो मीमांसकों में कुछ भ्रम भी पैदा करेगा ; पर आगे चल कर ठीक हो जायगा। नये शब्द भी तो चलाने ही हैं ! एकदम रूढ़िवाद ठीक नहीं। या फिर बिना समास के लिखो—पूँजी

का वाद', यह भी आगे चल कर खटक न पैदा करेगा। कुछ भी हो, 'पूँजीवाद' की खटक तो सहन नहीं हो सकती। वर्माजी के मत का यही सार है।

आपने 'शीशा-विशेषज्ञ' आदि प्रयोग भी गलत बतलाये हैं। इसकी जगह 'काँच-विशेषज्ञ' लिखो और या फिर बिना समास के 'शीशे के विशेषज्ञ' इस तरह। आपने चिरपरिचित 'अछूतोद्धार' भी अशुद्ध बतलाया है। कहते हैं कि 'अछूत' हिन्दी और 'उद्धार' संस्कृत का समास ठीक नहीं। 'पूँजीपति' और 'रण-खेत' की बात दूसरी है।

वर्माजी ने 'कांग्रेसाङ्क' तथा 'झंडाभिवादन' को भी गलत इसलिए बतलाया है कि 'संकर' समास है। हमलोग तो ऐसे स्थलों में खटक इसलिए अनुभव करते थे कि सन्धि हो गयी! वर्माजी ने शायद सन्धि और समास को एक ही चीज समझा हो! यदि समास कर दिया जाय और सन्धि न की जाय, तब खटक नहीं रहती—'कांग्रेस-अंक' और 'झण्डा-अभिवादन'! परन्तु वर्माजी का मत यदि यह हो कि समास ही न होना चाहिए, तो फिर उक्त शब्दों का प्रयोग इस तरह करना होगा—'कांग्रेस का अंक', 'झण्डे का अभिवादन'। सम्पादकों को तब लिखना होगा—"हम 'जीवन' का अगला अंक 'कांग्रेस का अंक' के रूप में निकाल रहे हैं।" या फिर 'कांग्रेस' को संस्कृत शब्द में बदल दो। 'कांग्रेस' माने 'सभा'। लिखो—"हम 'जीवन' के अगले अंक को 'सभाङ्क' के रूप में निकाल रहे हैं।" मतलब न स्पष्ट हो, तो फिर 'महासभाङ्क' कर दो! फिर

कमी रहे, तो 'राष्ट्रीय महासभाङ्क' करके काम चलाओ। परन्तु 'संकर' समास 'कांग्रेस-अंक' तो नहीं करना होगा। यह वर्माजी का सुदृढ़ मत है। इसी तरह आपने 'गोलीकाण्ड' आदि को अशुद्ध बताया है। बिना समास के 'गोली चलने का काण्ड' हो गया—ऐसा शुद्ध लिखना चाहिए। हिन्दी की प्रकृति पहचानो। इसी तरह 'हिन्दी-ज्ञान' गलत है। 'हिन्दी' हिन्दी शब्द का संस्कृत 'ज्ञान' से क्या मेल? 'हिन्दी-परीक्षा' तो गलत है ही—'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' भी गलत। 'हिन्दी' का संस्कृत 'सम्मेलन' से संकर-समास गलत! हाँ, हिन्दी का नाम 'नागरी' कर लो, तब फिर 'नागरी-साहित्य' ठीक हो जायगा। काशी वाले 'हिन्दी' को नागरी इसीलिए कहते हैं, जब कि दूसरे लोग लिपि को 'नागरी' कहते हैं। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने दिल्ली में (सम्मेलन-समारोह पर) यह प्रस्ताव भी इसीलिए रखा था कि 'हिन्दी का नाम नागरी स्वीकार कर लिया जाय'। परन्तु दुःख की बात है कि एक काशीवासी विद्वान् का उत्तम प्रस्ताव सम्मेलन में स्वीकृत न हुआ! कुछ भी हो, वर्माजी का मत है कि 'हिन्दी-परिषद' तथा 'हिन्दी-साहित्यकार-संसद्' आदि गलत प्रयोग हैं। 'हिन्दी की परिषद्' इस तरह बिना समास के लिखो, तब ठीक! कहाँ खटक है, कहाँ नहीं, इसमें अपने कानों को प्रमाण मत मानो। वे तुम्हें धोखा देगें। कहीं खटक न मालूम हो और विवेचन न मिले, तो वैसे समास तबतक न करो, जब तक निश्चित व्यवस्था काशी से न मिल जाय।

वर्माजी ने खटक के लिए एक सूत्र दिया है—"जिन पर से

परकीयतावाली छाप बिलकुल मिट चुकी है, अथवा जिन पर परकीयता की कोई छाप है ही नहीं, उनके समास हो खटक से खाली होंगे।" यानी परकीयता की छाप या तो मिट चुकी है, और ऐसा न हो, तो कम से कम 'परकीयता की कोई छाप हो ही नहीं!' परन्तु यह पहचानना भी तो कठिन है कि कहाँ वह छाप मिट चुकी है, कहाँ नहीं, और कहाँ वह है ही नहीं! सूक्ष्म विचार है। 'पूँजीपति' में 'पूँजी' में कोई वैसी छाप नहीं है, या 'पति' में नहीं है। परन्तु 'पति' की तरह 'वाद' नहीं है। इसमें खटक है; क्योंकि इस पर परकीयता की छाप है! 'वाद' परकीय (संस्कृत का) शब्द है, 'पूँजी' से मेल नहीं खाता। 'पति' तथा 'वाद' की यह विशेषता मालूम न पड़ती, यदि वर्माजी स्पष्ट न करते। सो, सर्वत्र बिना लगाम के लेखक न चल पड़ें, कहीं खन्दक में जा गिरेंगे! आगे किन-किन शब्दों में समास करना या न करना चाहिए, 'अच्छी हिन्दी' के अगले संस्करण में कुछ विस्तार से बता दिया जायगा। और बराबर प्रति संस्करण यह सूची बढ़ती ही जायगी। बहुत बड़ा काम करने को पड़ा है! वर्माजी दुःख के साथ कहते हैं—'आजकल की यह (सङ्कर-समास की) दूषित प्रवृत्ति सञ्ज्ञाओं और विशेषणों तक ही परिमित नहीं है, और न संस्कृत तथा अरबी-फारसी तक ही सीमित है। अब तो……!'

वर्मा जीके इस करुण-वाक्यमें 'परिमित' खूब रहा—'सीमित' के अर्थ में! अर्थ-पुनरुक्ति से बचने के लिए इस तरह शब्द-भेद कुशल लेखक किया करते हैं!

६७ —"संस्कृत का एक शब्द है 'संघट्टन' जिसे कुछ सतर्क लेखक 'संघटन' लिखते हैं, पर अधिकतर लोग 'सगठन' लिखते हैं। यहां तक कोई हर्ज नहीं है। पर कठिनता तो यह है कि उस 'संगठन' से 'संगठित' और 'संगठनात्मक' आदि विशेषण भी बनने लगते हैं।"

वर्माजी की यह 'कठिनता' सरल हो सकती है, यदि लोग सावधान रहें। काशी-वासी लोग दूसरोंको 'सावधान' तो बराबर करते रहते हैं। 'जगाया तुमको कितनी बार !'

अच्छा हो कि 'संगठन' की जगह 'संघटन' लिखा जाय; क्योंकि शुद्ध यही है। परन्तु चलो, 'संगठन' भी सही ! मान लिया। वैसे शुद्ध शुद्ध ही है। 'उसका शारीरिक गठन कितना सुन्दर था' में 'गठन' की जगह 'घटन' करके देखिए— "उसका शारीरिक घटन कितना सुन्दर था"। कितना सुन्दर रहा ! भला, तत्सम 'शारीरिक' के साथ तद्भव 'गठन' का क्या मेल ? पर चलो, वैसा हर्ज नहीं। हाँ 'घटन' अधिक अच्छा रहता। इसी तरह 'वे लोग अपना संगठन कर रहे हैं' में शुद्ध शब्द 'संघटन' देना चाहिये। 'हमारी पीठ पर फोड़ा हो गया है' में 'पीठ' की जगह 'पृष्ठ' अधिक अच्छा रहेगा। वैसे 'पीठ' लिखनेमें भी हर्ज नहीं, काम चल ही जाता है ! 'भैंसके थनोंमें कुछ तकलीफ हो गयी है' में 'थन' देने से कोई हर्ज नहीं, पर 'स्तन' अधिक अच्छा रहता। यह है वर्मा जी का भाव। और 'संगठन' या 'गठन' से विशेषण बनना तो बहुत बुरा ! 'गठीला' बदन की जगह 'घटित शरीर' और शारीरिक गठन का 'शारीरिक घटन' लिखो, यह वर्मा जी का मत।

६८—"संस्कृत का 'एकत्र' शब्द वस्तुतः अव्यय है, और उसका व्यवहार विशेषण की तरह होता है।"

'और' का प्रयोग वर्माजी ने 'पर' के अर्थ में किया है। हैं तो 'एकत्र' अव्यय, पर इसका प्रयोग विशेषण की तरह होता है। यानी अव्यय से विशेषण का काम लिया जाता है, जो वर्मा जी के मत में 'वर्ण-संकर' नहीं; क्योंकि आप इसे वैसा नहीं मानते हैं। आगे विवेचन है:—

"परन्तु जिसे देखिये, 'एकत्रित' ही लिखता दिखाई देता है। मानों शुद्ध रूप 'एकत्र' हिन्दी से उठ ही गया है।"

साधारण जन लिखते हैं—"जिसे देखो,......" पर वर्माजी ने बतलाया कि 'देखो' एकवचन का प्रयोग अशिष्ट है—'देखिए' लिखना चाहिए! स्पष्ट है कि वर्मा जी 'वहाँ एकत्रित भीड़ पर पुलिसने लाठी चलायी' जैसे स्थलों में 'एकत्रित' को गलत कहते हैं और 'एकत्र' का चलन चाहते हैं; क्योंकि यह शुद्ध है। 'पुलिस ने एकत्र भीड़ पर लाठी चलाई' ऐसा लिखना चाहिए। और—

"पुलिसने एकत्र भीड़ पर लाठी चलायी, जब कि दंगा अन्यत्र हो रहा था।" यहां 'एकत्र' तथा 'अन्यत्र' का प्रयोग दूसरी बात है।

वैसे अव्ययसे विशेषण बनते हैं—संस्कृत अव्ययोंसे बनते हैं—संस्कृत में भी बनते हैं—'कुतः' अव्यय से 'कुतस्त्य' विशेषण बनता है, 'तत्र' से 'तत्रत्य', 'इह' से 'ऐहिक' बनता है; 'अत्र' से 'अत्रत्य' बनता है। 'तत्र' और 'अत्र' से

'तत्रत्य' और 'अत्रत्य' बनते-चलते हैं, पर वहाँ 'एकत्र' से 'एकत्रत्य' तथा 'अन्यत्र' से 'अन्यत्रत्य' नहीं बनते-चलते हैं। व्याकरण की रोक नहीं, भाषा का प्रवाह वैसा नहीं है। भाषा का प्रवाह वैसा इसलिए नहीं, क्योंकि सुनने में, और बोलनेमें 'एकत्रत्य' और 'अन्यत्रत्य' भले नहीं लगते। तो, जब कि संस्कृत में 'एकत्र' से वैसा विशेषण नहीं बनता, तो फिर हिन्दी में क्यों बने ! 'एकत्रित' बना कर हिन्दी ने अपना अलग रास्ता पकड़ा है। 'एकत्र' संस्कृतसे लिया और 'त' प्रत्यय भी वहींसे लिया। अव्यय से विशेषण बनाने की चाल भी वहीं से सीखी; पर एक नये ढँग का शब्द क्यों बना दिया ! कहीं से किसी मशीन के प्रधान-अप्रधान कल-पुर्जे मँगा-कर वैसी ही मशीन बनानी चाहिए। यदि उन कल-पुर्जों से कोई नयी मशीन खड़ी कर ले और उससे काम लेने लगे, तो यह गलती कही जायगी। ('एष वर्मणः सिद्धान्तः' !)

६६—" 'मान' से 'मान्य' विशेषण बनता है। उसमें भी लोग 'ता' प्रत्यय लगा कर 'मान्यता' बना लेते हैं।"

इस तरह की गलतियों पर वर्मा जी को बहुत दुःख है। वे चाहते हैं कि विशेषणों से 'ता' प्रत्यय लगा कर कोई नया शब्द न बनाया जाया करे ! 'मूर्ख' एक विशेषण है—'मूर्ख लड़के'। इस विशेषण से 'ता' प्रत्यय कर के 'मूर्खता' बनाना मूर्खता है, वर्मा जी के मत में। इसी तरह 'चतुर' से 'चतुरता' आदि बनाना ठीक नहीं। क्या आप की समझ में यह बात नहीं आयी ?

वर्मा जी का मतलब शायद दूसरा हो ! वे शायद 'य' के

चक्कर में पड़ गये हैं। 'लेखन-कला' में उसके लेखक ने लिखा था कि 'सारल्य' से 'सारल्यता' और 'वैमनस्य' से 'वैमनस्यता' आदि बनाना गलती है। एक भाव-वाचक प्रत्यय के आगे दूसरा भाव-वाचक प्रत्यय नहीं होता। एक टोपी पर दूसरी टोपी लगाना ठीक नहीं। वर्मा जी ने सारल्य, चातुर्य्य, पाण्डित्य आदि शब्दों की तरह 'मान्य' भी समझ लिया। 'लेखन-कला' में बतलाया गया था कि सरल से सारल्य, चतुर से चातुर्य्य तथा पण्डित से पाण्डित्य जब भावात्मक रूप बना लिये, तब फिर इनके आगे 'ता' लगा कर उस तरह के बेढँगे शब्द बनाना ठीक नहीं। जैसे वहाँ 'सरल' से 'सारल्य' बतलाया गया, वर्मा जी ने उसी तरह 'मान' से 'मान्य' बना लिया। यद्यपि आप संस्कृत के गढ़ में रहते हैं; पर अपना अलग मार्ग है। पाणिनि के आप पिछलगुआ नहीं हैं। इसीलिए 'मान' से 'मान्य' बनाते हैं। जब कि 'सरल' से 'सारल्य' बनता है, तब 'मान' से 'मान्य' क्यों नहीं ?

'लेखन-कला' में 'सारल्य' आदि भाव-वाचक संज्ञाओं से परे फिर 'ता' भाव-वाचक प्रत्यय लगाना मना किया गया था। आपने विशेषण भी सम्मिलित कर लिया! कुछ तो आगे बढ़ें! 'लेखन-कला' के कई वर्ष बाद तो 'अच्छी हिन्दी' निकले और कुछ प्रगति न हो! वैसे वर्मा जी ने ध्वनित किया है कि उन्हों ने 'अच्छी हिन्दी' लिखने से पहले 'लेखन-कला' नहीं पढ़ी और 'लेखन-कला' छपने से बहुत पहले आप 'अच्छी हिन्दी लिख चुके थे; सिर्फ छपायी न थी! मुझे एक पत्र में वर्माजी ने यह भी

लिखा था कि 'लेखन-कला' खरीद तो ली थी ; पर उसे पढ़ने का अवसर न मिला, और वह तब पढ़ी, जब 'अच्छी हिन्दी' छप कर प्रकाशित हो गयी ,तथा 'लेखन-कला' के लेखक ने जब वैसा कुछ जिक्र पत्र-पत्रिकाओं में किया ! सो, यह भी सम्भव है कि वर्मा जी ने वस्तुतः तब तक 'लेखन-कला' न देखी हो और आपका वह 'मान, मान्य, मान्यता' का विवेचन स्वतंत्र प्रतिभा से हो ! इसी लिए वे बहुत क्रुद्ध हो गये थे, जब यह लिख दिया गया था कि वर्मा जी ने 'लेखन-कला' की नकल पर 'अच्छी हिन्दी' लिखी है ; पर कहीं इसका निर्देश नहीं किया कि कहाँ से प्रभावित हुए ! ('प्रभावित' शायद मैं गलत लिख गया ! वर्मा जी 'प्रभावान्वित' शुद्ध समझते हैं !) फिर क्रोधावेश में उन्होंने एक वकील की मार्फत नोटिस दिया। "आपने यह लिखा कि 'अच्छी हिन्दी' नकल है 'लेखन-कला' की ! ऐसा लिख कर हमारे मवक्किल (श्री रामचन्द्र वर्मा) की तौहीन की है आपने। सो, माफी माँगो और हजार रुपये हरजाने के दो।" यह सार उस नोटिस का है !

नोटिस का जवाब दे दिया गया—"'अच्छी हिन्दी' 'लेखन-कला' की नकल तो नहीं है और न कहीं ऐसा लिखा ही गया है। हाँ, नकल पर, उस ढंग पर, लिखी गयी है वह। 'नकल है' और 'नकल पर लिखी गयी है' में जो भेद है, वह एक भाषा-विवेचक को तथा उसके वकील को समझ लेना चाहिए। और जो कुछ लिखा गया है—यह कि 'अच्छी हिन्दी' 'लेखन-कला' की नकल पर लिखी गयी है—उस पर हम दृढ़ हैं। मुकदमा चलने दो।"

परन्तु वर्मा जी चुप हो गये। मुकदमा नहीं चलाया। यह उनकी उदारता का बहुत बड़ा प्रमाण है! इतना प्रासंगिक निवेदन हुआ।

७०—"फल शब्द में 'स' उपसर्ग लगने से 'सफल' शब्द बनता है और उसका भाव-वाचक रूप होता है 'सफलता।' अधिकांश हिन्दी लेखक उसी 'सफल' में एक और उपसर्ग 'अ' लगा कर 'असफ़ल' और 'असफलता' लिखते हैं। एक ही शब्द में एक साथ दो-दो उपसर्ग देखने में भद्दे मालूम होते हैं। इनके स्थान पर 'विफल' और 'विफलता' का प्रयोग अधिक सुन्दर होगा।"

इसे कहते हैं भाषा-परिष्कार! 'लेखन-कला' में तो 'वैमनस्य', 'साफल्य', 'सारल्य' आदि से परे 'ता' लगाने का ही निषेध किया गया था; क्योंकि भाव-वाचक दो प्रत्यय एक साथ व्यर्थ, भद्दे तथा व्याकरण-विरुद्ध हैं। वहाँ दो उपसर्गों का एक साथ निषेध तो बतलाया ही नहीं गया! सो, यह वर्मा जी का 'परिष्कार' है!

अब एक शब्द में, एक साथ अनेक उपसर्गों का प्रयोग बन्द कर देना चाहिए। 'निराहार' में 'निर्' तथा 'आ' ये दो उपसर्ग भद्दे हैं। वर्मा जी के मत में 'निर्भोजन' ठीक रहेगा। 'समाचार' में भी 'सम्' के साथ 'आ' (आङ्) मौजूद है। दो उपसर्गवाले इस बेढँगे शब्द की जगह 'वृत्त' या 'खबर' ठीक है। 'समाचार-पत्र' की जगह 'वृत्तपत्र' या सीधा 'अखबार' लिखो-बोलो! 'विप्रतिपत्ति' की जगह तो 'आपत्ति' ठीक चल ही रहा है; क्योंकि उसमें 'वि' और 'प्र' ये दो उपसर्ग हैं!

'सफल' शब्द में 'स' एक उपसर्ग है, यह तो वर्मा जी ने बता दिया। अभी तक यह बात अन्धकार में थी। उपसर्ग आपने खोज निकाला, जो आज तक बड़े-बड़े न खोज सके थे! इसी लिए पाणिनि-जैसों को धोखा हो गया! उन्होंने, समास में 'सह' का अंश 'स' रह जाता है, 'ह' उड़ जाता है, ऐसा समझा था! तभी तो लोगों ने 'फलेन सह, सफलः' ऐसा सब जगह लिखा है! धन्य वर्मा जी! यह सौभाग्य तो हिन्दी को मिलना था कि इसके एक सपूत ने 'स' उपसर्ग का पता लगाया, जिसे लोग एक अव्यय का खँडहर समझे बैठे थे! वर्मा जी ठीक कहते हैं कि पहले 'सफल' कह कर फिर 'असफल' उसी से बना लेना बुरा है! भद्दा लगता है! 'अ', 'स' ये दो उपसर्ग एक साथ! हद हो गयी, भाषा बिगाड़ने की! आशा है, आगे आप लोग इसकी जगह 'विफल' लिखने लग जायँगे और इसी से 'विफलता' का सम्पादन करेंगे!

इसी जगह वर्मा जी ने 'प्रभावित' को गलत बतला कर सलाह दी है कि इसकी जगह 'प्रभावान्वित' लिखना-बोलना चाहिए। 'मैं उनसे बहुत प्रभावित हूं' गलत है—'प्रभावान्वित' शुद्ध है! इसी तरह 'सम्भावित' को गलत समझिए, 'सम्भावनान्वित' ठीक! 'सम्भावित है आपकी सफलता' की जगह 'सम्भावनान्वित है आपकी सफलता' साधु प्रयोग है। 'सफलता' को वर्मा जी ने गलत नहीं कहा है। 'असफलता' गलत है, दो उपसर्गों के कारण! 'प्रभावान्वित' उसी तरह है; जैसे 'लाभान्वित' आदि! 'भा' के साथ 'अन्वित' याद रखिएगा!

७१—वर्माजी अत्यधिक संस्कृत शब्दों की भरमार के भी विरुद्ध हैं! उन्होंने 'पक्षी नीड़ निर्माण करता है' को बेढंगा प्रयोग बतलाया है। 'नीड़' की जगह वे सीधा-सादा 'घोंसला' पसन्द करते हैं। वे कहते हैं—"ऐसे प्रयोगों में बहुत खटक होती है।" वे 'आद्योपान्त' की जगह 'आदि से अन्त तक' चाहते हैं और 'अग्रज' की जगह 'बड़े भाई'! डा० अमरनाथ झा महोदय नोट कर लें, 'जो पुस्तक आद्योपान्त पढ़ गया' लिख देते हैं! श्री सियाराम शरण गुप्त सावधान! अब अपने 'अग्रज' को छोड़िए—'बड़े भाई साहब' लिखिएगा! खबरदार! वर्माजी खुलासा चाहते हैं।

वर्माजी को 'औद्धत्य' भी पसन्द नहीं है! लिखा है—"ये सब इस के प्रकार शब्द हैं, जिनका प्रयोग कम होना चाहिए।" 'औद्धत्य' की जगह आप शायद 'उद्धतता' चाहते हैं। कितना बढ़िया शब्द है—'उद्धतता'! गेंद-सा उछलता चला जाता है। इसी तरह 'पाण्डित्य' की जगह 'पण्डितता' समझिए। 'त' के बाद 'ता' में कैसा शब्द-चमत्कार है? बोलने में आकर्षण है और सुनने में भी! 'तता' बढ़िया अंश है। इसी लिए 'औद्धत्य' को मना किया है। उन्होंने कुछ विशेष नहीं लिखा है कि क्यों ऐसे शब्दों का प्रयोग न करना चाहिए। बड़े आदमी सूत्र-रूप में ही कहते हैं। तभी तो टीका की जरूरत होती है!

वर्माजी ने 'काठिन्य', 'ईषत्' तथा 'रक्ताभ' आदि शब्दों के प्रयोग की भी निन्दा की है; क्योंकि वे संस्कृत का अत्यधिक पचड़ा ठीक नहीं समझते। श्री मैथिली शरण गुप्त के 'अमिताभ' भी गये! भद्दे हो गये?

७२—"कभी तो लोग संख्याएँ अंकों में लिखते हैं और कभी अक्षरों में, और कभी एक ही वाक्य में दोनों में लिखते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए।"

वर्मा जी ने यह नहीं बताया कि संख्या कहाँ अङ्कों में लिखनी चाहिए और कहाँ अक्षरों में। यह अपने मन से समझ लीजिए। हाँ, एक वाक्य में दोनो तरह से न लिखना चाहिए।

इस सम्बन्ध में साधारण स्थिति यह है। तारीख, तिथि, सन्-संवत् आदि प्रायः अङ्कों में लिखे जाते हैं। अन्यत्र संख्या अक्षरों में दी जाती है—'कोई बीस-पचीस आदमी आये होंगे। यह बात १२ या १३ तारीख की है।'

यदि संख्या के आधिक्य का प्रभाव विवक्षित हो और वह (संख्या) तीन-चार-अङ्कों-की या अधिक हो, तो अङ्कों में ही देना ठीक समझा जाता है। संख्या के आधिक्य का प्रभाव कम करना हो, तो अधिक अङ्कों वाली संख्या अक्षरों में लिख दी जाती है। एक पैरा में या एक ही वाक्य में यह संख्या दोनो तरह से लिखी जाती है; जैसे—

"कांग्रेस-उम्मीदवार को ५८७०१ वोट मिले और स्वतन्त्र उम्मीदवार को उनसठ हजार।" आपाततः देखने से प्रभाव पड़ता है और अधिक अङ्क आंखों को खींचते हैं। 'उनसठ' में (अक्षरों में) यह बात नहीं! साधारण लोग यों संख्या-लेखन को एक गुण समझते हैं। वर्माजी इसे दोष समझते हैं। जो रास्ता पकड़ो, उसी पर चलते रहो, यह वर्माजी का मत है।

७३—"प्रायः लोग ५ वाँ, ७ वाँ, और १२ वाँ आदि तो लिखते ही हैं, जो ठीक ही है; पर कुछ लोग २रा और ४था भी लिखते हैं! इसकी जगह दूसरा और चौथा ही लिखना ठीक है कारण यह है कि २ और ४ का उच्चारण सदा 'दो' और 'चार' ही होता है, 'दूस' और 'चौ' नहीं होता।"

वर्माजी ने बात ठीक लिखी है। मेरे-जैसे अल्पमति भी इसी पक्ष के हैं। वर्माजी '५वां' आदि प्रयोग ठीक समझते हैं; पर मैं इसके पक्ष में कम हूं। '५ वाँ' लिखने-पढ़ने में क्या सुविधा है, जो 'पाँचवाँ' में नही। व्यर्थ का अङ्क-अक्षर-द्वैविध्य ठीक नहीं। छोटे बच्चों को तो बहुत गड़बड़ी में डालते हैं ऐसे प्रयोग! हां, अधिक अङ्कों की संख्या हो, तब उसकी पूरणी अङ्क-अक्षरों में उस तरह लिखने में सुविधा है—'इस सेना का वह ५७५ वां सैनिक था, जो वीरगति को प्राप्त हुआ है।' इसे 'पाँच सौ पचहत्तरवाँ' लिखना अच्छा नहीं। यह मैंने अपनी ओर से लिखा, वर्माजी से बहुत डरते-डरते।

७४—"'कालिदास ने कुमुद का वर्णन शरत् काल में किया है।' मानो जिस समय कालिदास ने कुमुद का वर्णन किया था, उस समय शरद् ऋतु थी। होना चाहिए—'कालिदास ने कुमुद का उल्लेख शरत् काल के वर्णन के अन्तर्गत किया है'।"

वर्माजी ने जो वाक्य दिया है, शुद्ध करके, कितना गठीला (या 'घटित') तथा चुस्त है? आपको उस वाक्य का क्या अर्थ पहले मालूम हुआ, वर्मा जी के परिष्कार-पाठ से पहले? क्या आपको यह लगा कि कालिदास ने शरद् ऋतु में वह सब

लिखा ? 'शरद् ऋतु के वर्णन में कुमुद भी हैं', यह अर्थ समझे, तो अभी अधकचरे हो ! वह सन्देह जब तक न हो, साहित्यिक कैसे !

'शरद् ऋतु के वर्णन में कुमुद का उल्लेख किया है' ? चलते-चलाते नाम ले दिया है, जैसे 'मेघदूत' में कालिदास ने 'कनखल' का उल्लेख किया है—'तस्माद्गच्छेरनुकनखलम्'—'वहाँ से कनखल होकर निकल जाना'। यों एक प्रसंग से 'कनखल' का उल्लेख हो गया ! इसका 'वर्णन' नहीं है। इसी तरह शरद् ऋतु के वर्णन में कुमुद का उल्लेख कालिदास ने किया है, यह वर्माजी की इबारत से निकलता है ! उस 'अशुद्ध' वाक्य से 'कुमुद-वर्णन' प्रतीत होता है। उसे वर्माजी ने शुद्ध कर दिया ! न हो वर्णन, उल्लेख ही सही ; वाक्य तो 'शुद्ध' हो गया !

साधारण जनों को वैसे वाक्य बिलकुल शुद्ध मालूम देते हैं ! अशुद्धि देखने के लिए तीक्ष्ण बुद्धि चाहिए, जो सबको सुलभ नहीं ! बतलाने से तो समझ गये न ? टीका तो मैंने खासी कर दी है !

७५—"वे वाक्य भी दूषित होते हैं, जिनमें क्रियाओं का निर्वाह ठीक तरह से नहीं होता। हमारा अभिप्राय ऐसे वाक्यों से है, जिनमें आरम्भ में तो कुछ और प्रकार की क्रियाएँ रहती हैं और अन्त में कुछ और प्रकार की।" आगे फिर उदाहरण दिये हैं। जैसे—

"जो लोग मराठों का इतिहास जानते हैं, उन्हें यह भी मालूम होगा कि शिवा जी कौन थे ?" इस 'गलत' वाक्य में गलती के अक्षर मोटे टाइप में छाप दिये गये हैं—'होगा'—'थे' ! यानी एक

जगह 'होगा' और वही आगे 'था'! यह क्रिया का प्रकार-भेद वर्मा जी गलत समझते हैं। क्या होना चाहिए, सो तो नहीं बतलाया; पर स्पष्ट है, वे यों चाहते हैं—

'उन्हें यह भी मालूम होगा कि शिवाजी कौन होंगे।'

'लेगा' और 'होंगे' का यह मेल अब कितना सुन्दर हो गया? या फिर यों लिखो—

'उन्हें यह भी मालूम था कि शिवाजी कौन थे।'

'था' और 'थे' एक-जैसी क्रियाएं आ गयीं; भाषा शुद्ध हो गयी। इस तरह—'मैंने देखा, लड़के पढ़ रहे हैं और माताएं घर का काम कर रही हैं' ये वाक्य भी वर्मा जी के मत से गलत हैं। 'देखा' भूतकाल की क्रिया और फिर उसी वाक्य में 'पढ़ रहे हैं', 'कर रही हैं' ये वर्तमान काल की क्रियाएँ कितनी भद्दी लगती हैं। यों लिखो—

"लड़के पढ़ रहे थे, माताएँ घर का काम कर रही थीं, यह मैंने देखा।" बल्कि 'लड़कों ने पढ़ा', 'माताओंने काम किया' ऐसा हो, तब 'देखा' के साथ ठीक जमें। यद्यपि ऐसा लिखने से आपके अटपटा लगेगा; पर शुद्ध भाषा तो इसी तरह होगी!

७६—"द्विरुक्ति दोष का दूसरा प्रकार वह है, जो अर्थ से सम्बन्ध रखता है। अर्थात् जब एक ही अर्थ या भाव सूचित करने वाले दो शब्द वाक्य में साथ ही साथ लाये जाते हैं, तब यह दोष होता है।"

वर्माजी ने नीचे लिखे वाक्य गलत बतलाये हैं—

१—"शुक्लजी एक योग्य और अनुभवी सम्पादक हैं।"

२—"अभंग एक प्रकार का मराठी छन्द होता है।"

सोचिए, कहाँ गलती है ! अभ्यासके लिए प्रश्न !

इसके आगे उदाहरण हैं, जिनमें दो वाक्य ये भी हैं—

१—"रेलसे जाना है, तो ट्रेन का समय उससे पूछ लीजिए।"

२—"अश्वमेध यज्ञका घोड़ा बाँध कर रख लिया। "

पहले वाक्य में 'रेल' तथा 'ट्रेन' में वर्माजी 'पुनरुक्ति' दोष देख रहे हैं। परन्तु इन दो में से एक शब्द भी हटा लिया जाय, तो वाक्य उसी तरह (पुनरुक्ति-शून्य) शुद्ध हो जायगा, जैसे एक-जैसी दो टांगों में से एक काट देने पर शरीर सुन्दर, सुडौल और कार्य-क्षम हो जाय ! अलग करके देख लें !

'अश्वमेध यज्ञ' में 'यज्ञ' शब्द उसी तरह अनावश्यक है, और उतना ही अनावश्यक है—(या उतना ही 'वैसा' है ? फिरसे 'अनावश्यक' तो पुनरुक्ति-दोष उत्पन्न कर देगा !) जिस तरह और जितना 'बगीचे में चार पेड़ आसके हैं' में 'पेड़' और 'अतलान्तक समुद्र' में 'समुद्र' ! ऐसे प्रयोग आम तौर पर होते हैं सही, और यह भी सही कि आम तौर पर जो प्रयोग होते हैं, वे ही प्रवाह-प्राप्त समझे जाते हैं। भाषाका कोई प्रवाह होता है, यह भी ठीक। परन्तु परिष्कार भी कोई चीज है ! एकदम भेड़ियाधसान ठीक नहीं ! कुछ शुद्धि भी चाहिए।

७६—अब वर्माजीने बहुत गम्भीर चर्चा चलायी है ! आप कहते हैं:—"वाक्य वही सुन्दर होते हैं, जिन में आदि से अन्त तक एक एक ही मेल के शब्दों का प्रयोग हो। एक ही वाक्य में कई तरह के या कई भाषाओं के बेमेल शब्दों का प्रयोग भी

वाक्य-विन्यास का बहुत बड़ा दोष है। इससे वाक्यों में भद्दापन तो आता ही है, लेखक की असावधानता और उसके शब्द-भांडार की अल्पता भी सूचित होती है।"

इस सिद्धान्त से—

'उसे इस समय काफी ज्वर है'

यह गलत और भद्दा वाक्य होगा! हां, 'ज्वर' को 'बुखार' और 'समय' को 'वक्त' कर दें, तब और बात है। परन्तु तब तो वाक्य हिन्दी का नहीं, उर्दू का या 'हिन्दुस्तानी' का हो जायगा! कुछ भी हो, शब्द एक भाषा के चाहिए। तो फिर 'काफी' को ही क्यों न बदल दें? लिखें—

'उसे इस समय पर्याप्त ज्वर है'

अर्थात् इतने ज्वर से काम चल जायगा! ठीक है! क्या यों 'पर्याप्त' ठीक रहेगा? 'काफी' रहता है, तो बेमेल है और जाता है, तो मामला ही उड़ाये लिये जाता है! आंख का आना दुखदायी और जाना तो बस! आखिर किया क्या जाय? 'अच्छी हिन्दी' के अगले संस्करण की प्रतीक्षा करो। सब समझा दिया जायगा।

८७— राहुल सांकृत्यायन की तिब्बत-यात्रा ने इन संस्कृत ग्रन्थों की संख्या को और भी बढ़ा दिया है।' लेखक महोदय का आशय तो यह है कि राहुल सांकृत्यायन को तिब्बत में बहुत से नये ग्रन्थ मिले हैं; और इस कारण इस प्रकार के ग्रन्थों की संख्या और भी बढ़ गई है। परन्तु वाक्य-रचना से ऐसा जान पड़ता है कि मानो स्वयं राहुलजी की यात्रा ने उन ग्रन्थों की संख्या बढ़ा दी हो।"

मतलब यह कि यदि कोई लिखे कि 'हिन्दी का परिमार्जन वर्माजी को लेखनी ने अच्छा किया है', तो यह गलत हो गया। यह वाक्य-विन्यास तो यह मतलब देता है कि मानो वर्माजी की कलम ने ही हिन्दी का परिमार्जन कर दिया हो!

७८—"कभी-कभी अनावश्यक रूपसे कहीं कोई विभक्ति या अव्यय आदि जाने के कारण भी वाक्य दूषित हो जाता है। जैसे—महात्माजी कार्यसमिति के सदस्यों से पहले यह वादा करा लेने पर कि ही बात चीत का विषय केवल अगस्त-प्रस्ताव वापस लेने का होगा, मिलने दिये जायँगे। (वाक्य शिथिल और दूरान्वयी तो है ही' इसमें 'कि ही' का प्रयोग तो बहुत ही भद्दा है)।"

दूरान्वय दोष तो हम भी समझते हैं! 'महात्माजी' को वाक्य के शुरू से उठा कर 'मिलने' के पहले रख दिया जाय, तो ठीक हो जायगा। परन्तु वर्माजी ने 'कि ही' के भद्दे प्रयोग की जो बात कही, सो क्या है यह 'कि ही' क्या चीज है, जिसका 'प्रयोग' वाक्य में लेखक ने किया है! इस 'कि ही' का यहां तो 'भद्दा प्रयोग' है; पर सही प्रयोग का उदाहरण क्या है?

वस्तुतः वर्माजी की बुद्धि सदा लेखकोंका सुधार सोचती है। प्रेस की गड़बड़ में भी उन्हें लेख का ही गलत प्रयोग दिखायी देता है! यह तन्मयता की बात है! असल बात यह है कि 'कि ही' का प्रयोग उस बेचारे लेखकने नहीं किया है! 'किही' कोई चीज हिन्दी में नहीं है, जिसका कोई भद्दा या बढ़िया प्रयोग करे! छपते समय 'कि' उखड़ कर अलग जा पड़ी होगी और फिर ध्यान जाने पर

उसे चिमटी से पकड़ कर वहां रखा गया; परन्तु 'ही' के बाद न रख कर उसके पहले जमा दिया ! सो, 'ही कि' के बदले 'कि ही' हो गया ! यों यह प्रेस की गलती है, लेखक का भद्दा प्रयोग नही। 'अच्छी हिन्दी' से ऐसी प्रेस की भूलें लाकर रखी जायँ, तो एक पुस्तक तैयार हो जायगी। परन्तु प्रेस की उन भूलों को हम वर्मा जी के गलत प्रयोग न कहेंगे। हम में वह तन्मयता नही है न ! हम समझते हैं कि यह लेखक की गलती है और यह प्रेस की ! यह बहुत ऊँची अवस्था की बात है—जिसे 'सिद्धावस्था' कहते हैं।

७६— "अब कुछ लोग दुमदार वाक्यों की भी रचना करने लगे हैं। हम यह नहीं जानते कि एक नई शैली चलाने के लिए ऐसा करते हैं, या वाक्य में जोर लाने के लिए, पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि ऐसे वाक्य भद्दे होते हैं और इनका प्रचार नहीं होना चाहिए।

उदाहरण—

'इतना भाषा-विज्ञान के पण्डितों की सेवा में उपस्थित किया गया, थोड़े में और डरते-डरते'।"

वर्माजी ने ऐसे वाक्यों को 'दुमदार' कहा है, और भद्दा बतलाया है ! कारण, वाक्य में जोर देने के लिए ऐसे वाक्य गढ़े जाते हैं, या नयी शैली चलाने के लिए ! जोर देना भी खराब और नयी शैली चलाना तो और भी खराब ! क्यों और कहाँ भद्दापन है, सो नहीं बतलाया गया; पर मतलब यही है कि अन्तिम अंश उस तरह न लिख कर बीच में या अन्यत्र कहीं आ जाय, तो ठीक हो जाय। उस से जोर न रहेगा और एक नयी शैली भी न चलेगी। यदि कहा जाय—

'वर्माजी ने 'अच्छी हिन्दी' लिखी है, लेखकों को सुधारने के लिए।' तो यह 'दुमदार' वाक्य ठीक न होगा; क्योंकि इसकी दुम 'लेखकों को सुधारने के लिए' बहुत खराब लगेगी, वर्माजी को! जोर आ जायगा न! इसी लिए इस तरह के भद्दे वाक्य त्याज्य हैं! यद्यपि दूरान्वय, भ्रम या और कोई बात नहीं; पर जोर ज्यादा आ जाता है और एक नयी शैली है, बस! और यह भी एक बड़ा भारी दोष है।

८०—"'भाषण करना' की जगह 'भाषण देना' इतना आम हो गया है कि उसके सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।"

ठीक है। जो आम तौर पर चल रहा हो, वही टकसाली। उसी को 'प्रवाह' कहते हैं, जो भाषा का प्रकृत रूप कहा जाता है। इसीलिए आम प्रयोगों की चर्चा दोष-प्रकरण में नहीं होती है! वर्माजी अगली पंक्ति में कहते हैं—"कारण यही है कि हम लोग अपनी भाषा की प्रकृति बिलकुल भूलते जा रहे हैं, और दूसरों का अनुकरण ही अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं।"

अर्थात् 'भाषण देना' गलत है और यह अंग्रेजी के अनुकरण पर हिन्दी में आया है। इसकी जगह 'भाषण करना' कहना चाहिए। 'पं० जवाहरलाल नेहरूने वहाँ भाषण भी दिया था' यह गलत, इसकी जगह ऐसा होना चाहिए—"पं० जवाहरलाल नेहरू ने वहाँ भाषण भी किया था।" कुछ लोग समझेंगे कि 'वहाँ' और 'भाषण' के बीच में 'से' विभक्ति से युक्त कोई व्यक्ति-वाचक या जाति-वाचक संज्ञा छूट गयी है। परन्तु यह उनकी समझ की गलती होगी! 'भाषण देना' बन्द करना चाहिए। 'भाषण करना'

सीखो। यह नहीं हो सकता कि कहीं 'भाषण किया जाय' और कहीं भाषण दिया जाय'! भाषण में वर्माजी एकरूपता चाहते हैं!

८१—वर्माजी ने एक बहु गम्भीर विषय उठाया है। कहते हैं—

"एक और प्रसंग है जिसमें लोग क्रियाओं के लिंग के सम्बन्ध में भूल करते हैं। व्याकरण का साधारण नियम यह है कि वाक्य की क्रिया सदा कर्त्ता या उद्देश्य के अनुसार होती है। पर कुछ लोग इस तत्त्व का ध्यान न रख कर भूल से विधेय के अनुसार ही क्रिया का रूप रख देते हैं। जैसे—

१—सारा राज्य उसके लिए एक थाती थी।

२—नेताओं को रिहा करना मूर्खता होगी।

३—इनको कुछ उत्तर देना भूल होगी।

यों सुनने में ये वाक्य भले ही कुछ अच्छे जान पड़ें; परन्तु व्याकरण की दृष्टि से हैं ये अशुद्ध ही।" वर्माजी चाहते हैं कि ये वाक्य यों शुद्ध लिखे-बोले जाया करें—

१—सारा राज्य उसके लिए थाती था।

२—नेताओं को रिहा करना मूर्खता होगा।

३—इनको कुछ उत्तर देना भूल होगा।

वर्माजी कहते हैं कि इस प्रकार व्याकरण-सम्मत रूप कानों को कुछ खटकेंगे जरूर; पर किया क्या जाय! लिखा तो शुद्ध ही जायगा!

गजब का परिष्कार है! कानों को खटकते हैं, तो खटकने दो और भद्दे लगते हैं; तो लगने दो; पर लिखो शुद्ध! व्याकरण का ध्यान रखो!

हम वर्माजी से पूछते हैं कि किस मूर्ख ने वह व्याकरण लिखा है, जिसे आपने पढ़ा है? क्रिया सदा कर्त्ता और उद्देश्य के ही अनुसार नहीं रहती है, कर्म और विधेय के अनुसार भी वह जाती है, और एक रूप उसका भाव-प्रधान भी होता है। ऊपर के तीनो उदाहरण जो आपने गलत बतलाये हैं, सो आप की गलती नहीं, उस व्याकरणकार की गलती है, जिसने भाषा-प्रवाह के विरुद्ध व्याकरण लिखा! वह व्याकरण नहीं है, गड़बड़ घोटाला है। व्याकरण कभी भी भाषा के प्रवाह को नहीं बदल सकता। वह भाषा को रास्ता नहीं बतलाता, भाषा के पीछे-पीछे चलता है, जिसे आपने 'लँगड़ाता हुआ घसिटता' कहा है! 'थाती थी', 'मूर्खता होगी' और 'भूल होगी' क्रियाएँ बहुत ठीक हैं। आपने जिन्हें ठीक समझा है, वे गलत हैं—'थाती था, मूर्खता होगा, भूल होगा!' किस बेवकूफ के चक्कर में आप आ गये! भाषा में कभी विधेय के अनुसार भी क्रिया होती है। आरोप्यमाण में प्रधानता होती है। ऊपर 'राज्य' में 'थाती' का आरोप है और इसलिए यही प्रधान है। इसीके अनुसार क्रिया है थी। इसी तरह 'रिहा करना' और 'उत्तर देना' आरोप के विषय हैं। 'मूर्खता' तथा 'भूल' आरोप्यमाण हैं। ये ही प्रधान हैं और इन्हीं के अनुसार दोनो जगह 'होगी' क्रिया-रूप शुद्ध हैं। ये ही शुद्ध रूप व्याकरण-सम्मत हैं। जो व्याकरण इन प्रयोगों को ग़लत कहेगा, वह स्वयं गलत! तुम यह नहीं कह सकते कि हिमालय को भारत के दक्षिण में होना चाहिए; क्योंकि भूगोल की एक बहुत प्रामाणिक पुस्तक में ऐसा

लिखा है! हम कहते हैं कि हिमालय तो हम उत्तर में अपनी आँखों देख रहे हैं, तब दक्षिण में कैसे समझें? आप कहते हैं—'तुम गलत देख रहे हो! आखिर भूगोल तो गलत न हो जायगा न!' इसपर निवेदन है कि महाराज, आपका विवेचन बहुत ऊँचे दर्जे का है; इसे अपने तक ही सीमित रखते, तो ज्यादा अच्छा था! हिन्दी को भी कैसे-कैसे सपूत मिले हैं।

८२—"'न जाने' की जगह खाली 'जाने' का प्रयोग होने लगा है। न जाने इस खाली 'जाने' का लोग क्या अर्थ समझते हैं। यदि वे इसका भी वही अर्थ समझते हों, जो 'न जाने' का है, तो फिर इसीसे समझ लीजिये कि और-और शब्दों के वे न जाने क्या क्या अर्थ समझते होंगे!"

वस्तुतः हिन्दी में 'जाने' एक अव्यय है, जिसका प्रयोग 'वितर्क' में होता है—'जाने आयेगा कि नहीं!' इसीको दूसरी तरह से कहते हैं—'पता नहीं, आयेगा कि नहीं', 'मालूम नहीं, आयेगा कि नहीं।' परन्तु 'पता नहीं' तथा 'मालूम नहीं' से वैसा 'वितर्क' प्रकट नहीं होता। ज्ञान-निषेध जान पड़ता है। तो भी प्रयोग ऐसे होते हैं। फिर आगे चलकर 'पता नहीं' और 'न मालूम' की तरह लोगों ने 'न जाने' भी बना लिया! 'जाने' वितर्कार्थक अव्यय को ज्ञानर्थक क्रिया-सा बनाकर 'न' लगा लिया और 'न मालूम' के वजन पर 'न जाने' बोलने-लिखने लगे। यों 'जाने' का 'न जाने' हो गया। दोनो तरह के प्रयोग चलते हैं। हम लोग तो 'न जाने' को गलत नहीं कहते, जब कि

मतलब निकलता है और वैसा प्रयोग चालू है; पर वर्माजी को 'जाने' पर 'आपत्ति' है! वे 'न जाने' को मूल-प्रयोग मानते हैं और 'जाने' को उसका 'दुम-कटा' नहीं, शायद 'नकटा' रूप (गलती तो 'नकटा' में नहीं हो गयी! वर्माजी 'नाक-कटा' यों व्याकरण-सम्मत रूप पसन्द करते होंगे!) कविवर नरोत्तम दास आदि ने गलतियाँ की हैं, 'जाने' लिख कर—

—जाने कौन है और कहां का रहने वाला है!

सो, हे स्वर्गवासी हिन्दी-कवियो, अब तुम फिर से इस भूतल पर आओ और 'अच्छी हिन्दी' पढ़ कर शुद्ध लिखना सीखो। साधारण जन-भाषा में 'जानै को आय' बोलते हैं, सो भी गलत। 'न जानै को आय' बोलना चाहिए।

८३—"एक मासिक पत्र में एक कहानी के अन्तर्गत पढ़ा था—'उसकी हुलिया तंग थी।' पहली बात तो यह है कि 'हुलिया' स्त्री-लिंग नहीं, पुल्लिंग है। दूसरी बात यह है कि हुलिया बनता या बिगड़ता है, 'तंग' तो 'काफिया' हुआ करता है।"

'हुलिया' हिन्दी में बोला तो स्त्री-लिंग हो जाता है; कोई कोई पुल्लिंग भी बोलते हैं। परन्तु है यह हिन्दी में पुल्लिंग ही; क्योंकि 'शब्द-सागर' में वर्माजी ने इसे पुल्लिंग ही लिखा है और पुल्लिंग आपने इस लिए लिखा है क्योंकि 'अरबी' भाषा का यह शब्द है, जहां यह पुल्लिंग ही है। अरबी में पुल्लिंग, तब हिन्दी में स्त्री-लिंग कैसे? स्त्री-लिंग बोलने-लिखने की चाल गलत है। यह वर्माजी कहते हैं! हाँ संस्कृत आदि की बात अलग है। संस्कृत में अग्नि पुल्लिंग है, पर हिन्दी में स्त्री-लिंग। अरबी हुलिया का

तद्भव रूप 'हुलिया' भी हिन्दी में पुल्लिंग ही रहेगा, जब कि 'अग्नि' का 'आग' भी स्त्री-लिंग! अरब वाले अपनी परम्परा नहीं छोड़ते; इसलिए अरबी का शब्द भी राह न बदलेगा! वर्माजी दूसरोंके मददगार जो हैं!

हिन्दी में 'काफिया तंग' होता नजर नहीं आता है;' पर अब लोग 'अच्छी हिन्दी' लिखने लगे हैं। सब हो जायगा!

८४—"असल मुहावरा 'मलिया-मेट करना' है, जो एक विशेष खेल से लिया गया है। पर जिसे देखिए, वह 'मटिया-मेट' ही लिखता है, जिसका कुछ अर्थ ही नहीं होता!"

वह विशेष खेल फारस या अरब में प्रचलित होगा और उससे हिन्दीवालों ने हिन्दुस्तान में 'मलिया-मेट करना' शुरू किया होगा। फिर हिन्दीवालों ने 'मलिया' का अर्थ न समझ कर 'मटिया-मेट' बना लिया होगा—इस तरह मिटाना कि मट्टी में मिला देना—उसने सब घर मटिया-मेट कर दिया। अब वर्माजी फिर 'मटिया-मेट' यह शुद्ध रूप चलाना चाहते हैं; इसलिए कि मटिया-मेट' का कुछ अर्थ ही नहीं होता! लोग कुछ अर्थ समझ तो लेते हैं; पर होता कुछ नहीं है! कैसा है परिष्कार! आज हिन्दी धन्य हुई है!

८५—"हमने एक अवसर पर देखा था कि एक लेखक ने 'तारा' शब्द पुल्लिङ्ग में ही रखा था; पर उसका बहुवचन 'ताराओं' दिया था। ऐसे सज्जनों को जानना चाहिए कि पुल्लिङ्ग 'तारा' का विभक्ति-युक्त बहुवचन रूप 'तारों' होगा।"

यानी पुल्लिंग रूप सदा यों होगा! 'माता-पिताओं' गलत,

'माता-पितों ने' ठीक है ! 'भ्राताओं ने' गलत ! होना चाहिए—'भ्रातों ने' ! 'पिता' तथा 'भ्राता' पुल्लिंग हैं न ! जरा व्याकरण समझना चाहिए लेखकों को !

८६—"कुछ इसी तरह की गड़बड़ी 'ओषधि' और 'औषध' आदि शब्दों में होती है। संस्कृत में 'ओषधि' पुल्लिङ्ग और 'औषध' स्त्री-लिंग है।"

वर्माजी संस्कृत का भी परिष्कार करते चलते हैं ! संस्कृत में लोग 'ओषधि' और इसके ही दूसरे रूप 'ओषधी' का प्रयोग स्त्री-लिंग में ही किया करते हैं ! अब उन्हें सावधान हो जाना चाहिए और शुद्ध पुलिंग में प्रयोग करना चाहिए।

'औषध' संस्कृत में नपुंसक लिंग लोग अभी तक समझते रहे हैं। वर्माजी स्त्री-लिंग बतलाते हैं, संस्कृत में, 'औषध' को ! सो, जिन लोगों ने लिख दिया है—

'औषधं जाह्नवी-तोयम्' उन्हें तो माफ कर दिया गया; पर आगे ऐसा न हो। 'औषध' की जगह 'औषधा' चाहिए ! वर्माजी हिन्दी की तरह संस्कृत से भी नपुंसक लिंग का बखेड़ा उड़ा देना चाहते हैं।—पुल्लिग या स्त्री-लिंग ! 'नपुंसक लिंग' इस वीरता-पूर्ण युग में रह नहीं सकता, संस्कृत में भी ! वह युग लद गया, जब 'औषध' आदि शब्दों को लोग नपुंसक लिंग लिखते थे। इसीलिए दृढ़ निश्चय में वर्माजी ने संस्कृत में 'औषध' को स्त्री-लिंग लिखा है ! सम्भव है, प्रेस की गलती हो ! और 'नपुंसक' की जगह 'स्त्री' छप गया हो ! या 'ओषधि' का 'स्त्री' यहाँ आ गया हो और वहाँ 'पुल्लिग' प्रेस के भूतों ने

कर दिया हो ! परन्तु ऐसी सम्भावनाएँ वे ही कर सकते हैं, जो लकीर के फकीर हैं, और जो 'ओषधि' तथा 'औषध' को अब भी उसी तरह गलत लिखना चाहते हैं।

८७—"'ओर' (तरफ) के लिङ्ग के सम्बन्ध में भी लोग किसी निश्चित सिद्धान्त का ध्यान नहीं रखते ! और, शायद इसका कोई व्यापक सिद्धान्त स्थिर भी नहीं हुआ है; हिन्दी-शब्दसागर में केवल इतना कहा गया है कि जब इसके पहले कोई संख्यावाचक शब्द आता है, तब इसका व्यवहार पुल्लिङ्ग की तरह होता है। पर यह यथेष्ट नहीं है। हम खाली 'दाहिनी ओर' और 'बाईं ओर' तो लिखते ही हैं और ऐसा लिखना ठीक भी है।" (खैर हुई !)

आगे फिर—"पर उसकी दाहिनी ओर' या 'उसकी बाईं ओर' में खटक है। हम समझते हैं कि यदि विभक्ति और 'ओर' शब्द के बीच में कोई और शब्द आ जाय, तो पुल्लिंग ही रखना ठीक होगा।"

कैसा बढ़िया विवेचन और सिद्धान्त-स्थिरीकरण है ! अपनी समझ से तो वर्माजी ने बहुत जोर लगाया है; पर बेचारे करें क्या ? ये शब्द काबू में नहीं आते !

असल में 'ओर' शब्द सदा स्त्री-लिंग है। न कभी इसका पुल्लिग में प्रयोग होता है, न पुल्लिग की तरह ही ! संस्कृत में जैसे 'दिक्' और 'दिशा' शब्द स्त्री-लिंग हैं, वैसे ही हिन्दी में 'ओर'। 'दिक्', 'दिशा' तथा 'ओर' समान्य दिशावाचक शब्द हैं। विशेष दिशा-वाचक शब्दों के साथ मिल कर ये काम करते हैं, और वे (विशेष दिशा-वाचक) शब्द इन्हीं के अनुसार स्त्री-लिंग चलते हैं—

'दक्षिणा दिशा; 'उत्तरा दिशा; 'पश्चिमा दिशा; 'पूर्वा दिशा' !

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा ।'

'उत्तरा', 'दक्षिणा' आदि शब्द सदा अपने विशेष्य के अनुसार चलते हैं। यहाँ सामान्य दिशा-वाचक 'दिक्' विशेष्य है; अतः ये स्त्री-लिंग—उत्तरस्याम्, दक्षिणस्याम् आदि।

'दक्षिणः भुजः' में 'दक्षिण' पुल्लिंग है, 'भुज' के अनुसार।

हिन्दी में 'ओर' स्त्री-लिंग है। विशेष दिशावाचक उसके विशेषण के रूप में आते हैं—'दाहिनी ओर, बाईं ओर'।

भ्रम है—'मेरे दाहिनी ओर' में ! शुद्ध लिखना चाहते हैं, तो 'मेरी' खटकता है ! तब वह नियम बनाते हैं—'हम समझते हैं कि यदि विभक्ति और 'ओर' शब्द के...!' समझे ?

देखो—

'राम के चारो ओर', 'मेरे दाहिनी ओर'।

एक जगह संख्या-वाचक 'चारो' है, जिसके लिए 'सागर' में नियम है। दूसरी जगह (मेरे दाहिनी ओर) के लिए 'अच्छी हिन्दी' ने जगह दी, व्यापक नियम बनाकर ! 'के चारो ओर' विभक्ति तथा 'ओर' के बीच में 'चारो' है न ! 'मेरे' में भी विभक्ति है। उसके और 'ओर' के बीच में 'दाहिनी' शब्द बीच में हो, तो 'ओर' पुल्लिंग ! यह विवेचन !

परन्तु वस्तुतः कहीं भी 'ओर' न पुल्लिंग है, न पुल्लिंग की तरह प्रयुक्त है ! 'चारो ओर' में 'ओर' का सम्बन्ध 'चारो' से है, न कि 'राम' से। 'चारो' यहाँ स्त्री-लिंग है। 'चारो स्त्रियाँ' की तरह। 'मेरे दाहिनी ओर' में 'ओर' से दाहिने का सम्बन्ध है,

जो स्त्री-लिंग है—'दाहिनी'। किसका दाहिना, किसका बायाँ, यह अलग बात है। 'राम के चारो ओर' और 'मेरे दाहिनी ओर' में 'राम' तथा 'मैं' दिशा-वाचक नहीं कि 'ओर' के अनुसार स्त्री-लिंग में प्रयुक्त हों! जब स्वयं ये दिशा होंगे, तब जरूर स्त्री-लिंग में आयेंगे; जैसे—

मेरी ओर, तेरी ओर, राम की ओर, इत्यादि।

यहाँ 'मैं' 'तू' तथा 'राम' स्वयं दिशाएँ हैं। इसीलिए 'ओर' से इनका सम्बन्ध है और स्त्री-लिंग में इनका प्रयोग है।'

सो, 'ओर' शब्द सदा स्त्री-लिंग है, सदा स्त्री-लिंग में प्रयुक्त होता है और—'मेरे चारो ओर' या 'मेरे दाहिनी ओर' आदि में 'ओर' स्त्री-लिंग ही है। 'मेरे' देखकर चक्कर में न पड़ें और न 'मेरी' करने के भ्रम में। 'मेरे' तो सामान्य प्रयोग है पुल्लिंग। 'ओर' का इससे सम्बन्ध नहीं है। 'रामस्य दक्षिणतः' राम के दाहिनी ओर। 'दक्षिणतः'—'दक्षिणस्यां दिशि'। 'एवं सर्वमवदातम्!'

८८—"स्वयं हिन्दी के बहुत से शब्द ऐसे हैं, जो पुल्लिग होने पर भी प्रायः भूल से स्त्री-लिंग लिखे जाते हैं। जैसे चपत, जेब, साँस आदि। ऐसा नहीं होना चाहिए।"

यानी ऐसे शब्दों का प्रयोग पुल्लिग में होना चाहिए; क्योंकि ये पुल्लिग हैं और पुल्लिग इसलिए हैं कि 'संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर' में वैसा लिखा है! सो—'चपत लग गयी' गलत समझो और लिखा-बोला करो—'चपत लग गया!' इसी तरह—

'जेब कट गयी' और 'साँस रुक गयी' नहीं,

'जेब कट गया' और 'साँस रुक गया'

यों शुद्ध पुल्लिग लिखा करो। वर्माजी का यह लिङ्गानुशासन ध्यान में रहे !

संस्कृत व्याकरण के परमाचार्यों ने शब्द-लिंग के बारे में कुछ अधिक न कह कर इतना निर्देश बहुत समझा है—

'लिङ्गमशिष्यम् लोकाश्रयत्वात्'

अर्थात् किस शब्द का प्रयोग किस लिङ्ग में होना चाहिए; इसकी शिक्षा देना व्यर्थ है; क्योंकि यह व्यवस्था लोकाधीन है। मतलब यह कि लोग जिस शब्द को जिस लिङ्ग में बोलें-लिखें वही उसका लिंग। आम तौर पर जिस शब्द को लोग पुल्लिग में बोलें-लिखें, वह पुल्लिग, और जिसका वैसा प्रयोग स्त्री-लिंग में हो, वह स्त्री-लिंग। कोई भी कोशकार इस लोक-व्यवस्था को पलट नहीं सकता है।

संस्कृत के कोशकारों ने 'पद्म' को पुल्लिंग भी लिख दिया; पर भाषा ने उन कोश-ग्रन्थों की अवज्ञा कर दी। पुल्लिंग 'पद्मः' कोई लिखे, तो गलत होगा !

परन्तु यह तो संस्कृत की बात है! जीवित-जागृत हिन्दी की बात वर्माजी कर रहे हैं। यहाँ चाल, प्रकृति या प्रवाह का महत्व तो है; पर कागज में लिखने के लिए! दूसरों को समझाने के लिए। भाषा के आचार्य उस प्रवाह को बदल सकते हैं, शुद्ध करने के लिए। सो जो पुल्लिंग शब्द प्रायः स्त्री-लिंग में लिखे-बोले जाते हैं, गलत हैं। इन्हें तथा इन-जैसे

दूसरे शब्दों को पुल्लिंग में ही बोलना चाहिए। भाषा-परिष्कार के लिए यह जरूरी है।

'आदि' शब्द बहुत व्यापक है। 'डकार' तथा 'कृपण' आदि शब्दों का तो वर्माजी ने स्पष्ट उल्लेख कर के कह ही दिया है कि इनका स्त्री-लिंग प्रयोग गलत है। ऐसे बहुत से उदाहरण देकर फिर 'आदि'–'इत्यादि' है! 'डकार आ गयी' ऐसा गलत है, वर्माजी कहते हैं! बोलना चाहिए—'डकार आ गया'। इसी तरह 'कृपाणें चल गयीं' गलत! 'कृपाण चले गये' ठीक! इसी तरह 'तलवारें निकल पड़ीं' नहीं, 'तलवार निकल पड़े, शुद्ध है। आचार्य वर्मा भाषा का परिष्कार कर रहे हैं!

८६—"'इच्छा' और 'आवश्यकता' हैं तो स्त्रीलिंग ही; (खैर!)

> परन्तु जब 'अनुसार' के साथ उनकी (इनकी?) सन्धि होती है, तब (व्याकरण के नियम से 'अनुसार' के लिङ्ग के अनुसार ही) यह समस्त-पद पुल्लिङ्ग हो जाता है। पर कुछ लोग (यह नियम न जानने के कारण) 'अपनी इच्छानुसार' लिखते और 'अपनी आवश्यकतानुसार' बोलते हैं।"

कुछ समझे? वर्माजी कह रहे हैं कि तत्पुरुष समास में उत्तरपद प्रधान होता है, और इसीलिए 'सम्बन्धी' पद में इसका ध्यान रखा जाता है। 'मेरे लतापुष्प' होता है, 'मेरी लतापुष्प' नहीं। 'लतापुष्प' में 'पुष्प' प्रधान है। उसीके अनुसार 'मेरे' होगा, न कि 'लता' के अनुसार 'मेरी'। इसी तरह 'राम की पुष्पलता' में 'राम की' स्त्री-लिंग है; क्योंकि 'पुष्पलता' में उत्तर पद 'लता' स्त्री-लिंग है, वही समस्त पद में प्रधान है। सो 'राम के पुष्पलता' नहीं होता है, गलत है।

इसी तरह वर्माजी कहते हैं कि 'अनुसार' पुल्लिंग है और समास में उसकी प्रधानता होने पर 'आपकी आज्ञानुसार' कैसे ? यह तो गलत हुआ न ? 'अनुसार' के अनुसार 'आपके' पुल्लिंग होना चाहिए—'आपके आज्ञानुसार'। इसी प्रकार 'अपने इच्छानुसार' 'राम के मति-अनुसार' इत्यादि !

अच्छा, तो आप यह जानना चाहेंगे कि 'अनुसार' पुल्लिंग शब्द है, यह कैसे मालूम हुआ ? 'अनुसार बड़ा है' इस तरह का कोई लौकिक प्रयोग होता नहीं है कि उस (लोक-व्यवहार) से मालूम हो ! वर्माजी ने भी अपने 'शब्द-सागर' में इस 'अनुसार' को पुल्लिंग नहीं लिखा है और 'विशेषण' बतलाया है। विशेषण विशेष्य के अधीन रहता है, उसीके लिङ्ग-वचन ग्रहण करता है, प्रायः। सो—

१—नक्शे के अनुसार सड़कें हैं।

२—आदर्श के अनुसार लड़के हैं।

यहाँ पहले वाक्य में, वर्माजी के मतानुसार, कोश के अनुसार 'अनुसार' स्त्री-लिंग हैं, और दूसरे वाक्य में पुल्लिंग है। यों 'शब्द-सागर' में तो पुल्लिंग का बन्धन है नहीं। 'अच्छी हिन्दी' लिखते समय तक वर्माजी में हिन्दी-ज्ञान पूर्णता को पहुँच गया और इसीलिए 'अनुसार' को पुल्लिंग लिख दिया !

हिन्दी में 'अनुसार' न तो विशेषण है, न पुल्लिंग है, ऐसा लोग मानते हैं। यह यहाँ एक अव्यय है और इसका प्रयोग संस्कृत के 'यथा' अव्यय की तरह होता है—

१—यथाशक्ति— शक्ति के अनुसार, शक्ति-अनुसार।

२—यथाबलम्—बल के अनुसार, बलानुसार।

३—यथासमयम्—समय के अनुसार, समयानुसार।

४—यथेच्छम्—इच्छा के अनुसार, इच्छानुसार।

संस्कृत में 'यथा' का पूर्व-प्रयोग है, हिन्दी में 'अनुसार' का पर-प्रयोग, यही अन्तर है। न यह विशेषण है, न कोई संज्ञा कि पुलिंग हो। संस्कृत में भी 'अनुसार' विशेषण नहीं है। वहाँ भाव-वाचक संज्ञा है, और पुल्लिंग है।

संस्कृत में भी 'अनुसार' का भाववाचक संज्ञा की तरह प्रयोग होता नहीं है—'रामस्यानुसरणं लक्ष्मणोऽकरोत्' होगा, 'रामस्यानुसारं लक्ष्मणोऽकरोत्' ऐसा नहीं। हिन्दी में भी—'राम का अनुसरण लक्ष्मण ने किया' होता है, 'राम का अनुसार लक्ष्मण ने किया', ऐसा नहीं होता। वर्माजी ने समझा कि जब 'अभिसार होता है' और 'प्रसार भी विद्या का होता है' तब फिर 'अनुसार' ही कैसे वंचित रह जाय! जैसे 'अभिसार किया' इसी तरह 'किसी का अनुसार किया'! इसी धोखे में 'अनुसार' को पुल्लिंग लिख दिया है और 'आप की आज्ञानुसार' आदि को गलत कह दिया है। वर्माजी 'वितरण' और 'वितार' को एकार्थक समझते हैं। वे 'आहार' को 'आहरण' और 'प्रकृति' को 'प्रकार' भी कहेंगे। जब 'अनुकृति' और 'अनुकरण' एक हैं, जब 'संस्मृति' और 'संसार' एक चीज हैं, तब 'भोजन' और 'भोज' में क्यों अन्तर? 'राम ने गोविन्द के सम्मान में एक भोज का आयोजन किया' इसे 'राम ने गोविन्द के सम्मान में एक भोजन का आयोग किया' भी कहा

जा सकता है, वर्माजी के मत से। एक ही क्रिया के वे सब भाववाचक रूप हैं न! 'आयोजन' और 'आयोग' में क्या अन्तर है? उभयत्र 'आ' उपसर्ग तथा 'युज्' धातु भवि प्रत्यय से है।

इसी तरह आप ने 'अनुसार' को 'अनुसरण' का सहोदर होने के कारण वह सब लिखा है। एक भाई कलेक्टर हो, तो उसका सहोदर व्यापारी कैसे बन सकता है? वह व्यापार करे भी, तो वर्माजी कलेक्टर ही उसे भी कहेंगे। 'अनुसार' अव्यय का काम करता हुआ भी पुल्लिंग ही है। यह है वर्माजी का मत।

हिन्दी का अपना अलग मार्ग है। वर्माजी ने जो कुछ 'शब्द-सागर' में और 'अच्छी हिन्दी' में लिखा है, सो न संस्कृत से मिलता है, न हिन्दी से! उनका अपना स्वतंत्र मत है और वे हिन्दी का संशोधन कर रहे हैं। बहुत से लोग उनके अनुसार लिखने लगे हैं—

'अपने इच्छानुसार'।

'अपने बुद्धि-अनुसार'।

दूसरे लोग अभी तक—

'अपनी इच्छानुसार'

'अपनी बुद्धि-अनुसार'

ऐसा ही लिख रहे हैं; क्योंकि अभी तक इन वज्र मूर्खों की समझ में यह नहीं आया कि 'अनुसार' हिन्दी में पुल्लिङ्ग है और 'इच्छानुसार' में अव्ययीभाव समास नहीं, तत्पुरुष है, जिसमें उत्तरपद प्रधान होता है—'लतापुष्प' या 'पुष्पलता' की तरह!

भगवान् ऐसे मूढ़ लोगों की बुद्धि को जरा तेज कर दे, तो वर्माजी का संशोधन समझ में आ जाय और शुद्ध प्रयोग 'अपने इच्छानुसार' होने लगें!

६०—"कुछ लोग ऐसे स्थानों पर बहुवचन का प्रयोग करते हैं, जिनमें एकवचन का प्रयोग होना चाहिए; और जहाँ बहुवचन का प्रयोग होना चाहिए, वहां एकवचन का प्रयोग करते हैं। जैसे—

१—ऐसी एकाध बातें और देखने में आती हैं ('एकाध' के साथ एकवचन ही आना चाहिए, बहुवचन नहीं।)"

२—उन्होंने अपने जीवन में बहुत-सा उतार-चढ़ाव देखा था ('बहुत से उतार-चढ़ाव' होना चाहिए।)"

यों वर्मा जी ने वचन-सुधार किया है! जहाँ 'एक' या आधा ज्यादा भी 'एकाध' आ जाय वहाँ बहुवचन कैसे हो सकता है? यह गलती संस्कृत में भी लोग करते हैं—

'एके त्वाहुः'—एक कहते हैं।

'एके त्वेतेदृशाः सन्ति'—एक ऐसे भी हैं।

'एक' को या तो एकवचन ही रख लो, या बहुवचन ही। यह नहीं हो सकता कि कभी एकवचन, कभी बहुवचन! इसी तरह हिन्दी में 'एकाध' का प्रयोग गड़बड़ चल रहा है। 'एकाध रोटी मैं भी खा लूंगा' में एकवचन और 'ऐसी एकाध बातें और देखने में आती हैं' यहाँ बहुवचन! सो, यह सब गड़बड़ वर्माजी दूर करना चाहते हैं। एक से अधिक होने पर 'अनेक' (बहुत) होते हैं सही; पर 'आधा' भी कुछ अधिक है क्या?

'बहुत-सा उतार-चढ़ाव देखा है'! किसका उतार-चढ़ाव?

'जीवन' का ! तो, जब 'बहुत' पड़ा है, जो 'उतार-चढ़ाव' का विशेषण है, तो स्पष्ट है कि 'उतार-चढ़ाव' बहुत-से हैं। तब फिर एकवचन क्यों ?

अभी तक हिन्दी वाले समझते रहे हैं कि 'बहुत' शब्द संख्या का भी वाचक है, परिमाण का भी—

१—बहुत आदमी आये—संख्या।

२—बहुत पानी जमा है—परिमाण।

'उतार-चढ़ाव' का परिमाण 'बहुत' बतलाता है, तब एकवचन रहेगा, यदि 'उतार-चढ़ाव' एकवचन है। और यदि 'बहुत' क्रिया-विशेषण है, तब तो बात ही दूसरी है। जीवन एक प्रवाह है। 'उतार-चढ़ाव' को एकवचन में भी बोल सकते हैं, बहुवचन में भी। 'हमने सुख भी देखे हैं, दुख भी'; इसे यों भी कह सकते हैं—'हमने सुख भी देखा है, दुख भी'। सो, 'उतार-चढ़ाव' एकवचन भी प्रवाह-प्राप्त है। 'बहुत' उसका परिमाण-वाचक विशेषण है। सो, इस ('बहुत') से बहुवचन बँधा हुआ नहीं है। ऐसा हिन्दी के साधारण लेखक समझते हैं और वैसे भ्रष्ट प्रयोग करते हैं। उन्हीं को वर्माजी सही रास्ते ला रहे हैं,

९१—"वचन के सम्बन्ध में कुछ बातें विवादास्पद और विचारणीय भी हैं, जिन का ठीक-ठीक निर्णय होने की आवश्यकता है। जैसे—'कुछ महीने बाद' और 'चार वर्षों बाद'।

एक जगह 'महीने' एकवचन है, दूसरी जगह 'वर्षों' बहुवचन। होना क्या चाहिए, ठीक क्या है, इस पर वर्माजी अपना निर्णय देते हैं, परमत-निराकरणपूर्वक—

"कुछ अवसरों पर बड़े-बड़े विद्वान भी 'एकवचन का समर्थन करते हुए देखे जाते हैं। परन्तु ऐसे लोगोंके तर्कमें कोई तथ्य नहीं होता। फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अवसर ऐसे होते हैं, जिनमें एकवचन ही अधिक श्रुति मधुर होता है; और कुछ अवसरों पर एकवचन और बहुवचन समान रूपसे श्रुति-मधुर होते हैं। परन्तु कोरा श्रुति-माधुर्य सदा कसौटी का काम नहीं दे सकता। काम तो देते हैं सिद्धान्त और नियम। उनकी अवहेलना करके केवल श्रुति-माधुर्य्यका आश्रय लेना ठीक नहीं है। यदि किसी विशेष अवसर पर किसी सिद्धान्त या नियम का अपवाद रखनेकी आवश्यकता हो ही, तो उसका भी निराकरण होना चाहिए।"

यानी उस 'आवश्यकता' का निराकरण होना चाहिए, न कि उसके अनुरूप नियम-परिवर्तन! नियम और सिद्धान्त पर जोर है। गङ्गा का वर्णन करते हुए जो लिख दिया गया, उसका ध्यान (गङ्गा को) रखना ही होगा—उसी के अनुसार चलना होगा। गङ्गा के अनुसार वर्णन होता रहे, तो बार-बार उस वर्णन में परिवर्तन जरूरी होगा। गङ्गाजी कभी इधर बहती हैं, कभी उधर। यह ठीक नहीं है। नियम का ध्यान रखना होगा। इसी तरह भाषा को अपना प्रवाह उन नियमों और सिद्धान्तों के अनुसार रखना होगा, जो आचार्य वर्मा जैसे लोगों ने निर्धारित किये हैं। यह नहीं हो सकता कि इन विविध प्रयोगों के अनुसार नियम बनते-बिगड़ते रहें। संस्कृत के आचार्यों ने 'लक्ष्य' को प्रधान मान कर उसी के अनुसार लक्षण (व्याकरण-नियम) बनाये हैं, पर हिन्दी में ऐसा नहीं हो सकता। यहां जो नियम

और सिद्धान्त बना दिये जायँ, भाषा को अपना प्रवाह उन्हीं के अनुसार करना होगा। वे प्रयोग इसी लिए अच्छे और श्रुति-मधुर मालूम होते हैं कि आम तौर पर वे चलते हैं, भाषा का प्रवाह वैसा पड़ गया है। सो बदलना होगा। 'चार महीने बाद' की जगह 'चार महीनों बाद' लिखना ठीक है; यह भी वर्माजी का सिद्धान्त है!

वर्माजी का मत चल निकला है और लोग—

'तीन महीने बाद', २—'सौ रुपये में लिया', ३—'चार वर्ष में' की जगह—

१—'तीन महीनों बाद' २—'सौ रुपयों में लिया' ३—'चार वर्षों में' यों शुद्ध लिखने लगे हैं। 'ये शुद्ध प्रयोग' कानों में खटकते जरूर हैं; पर शुद्धता के लिए यह खटक भी सहनी होगी। जो खटक वर्माजी को असह्य हो, उसे छोड़ो, और जो वर्माजी को सह्य हो, उसे ग्रहण करो। भाषा- शुद्धि चाहिए!

संस्कृत में 'दार' शब्द स्त्री-वाचक है और है पुल्लिग; एक के लिए भी बहुवचन में आता है 'मैथली तस्य दाराः'। पाणिनि ने इसे न स्त्री-लिंग बनाया और न एक के लिए एकवचन में प्रयोग करने की सलाह दी। परन्तु वर्माजी वैसे ढीले आचार्य नहीं हैं। नियम में कड़ाई?

ऊपर 'सिद्धान्त' की बात तो हो गयी। अब हिन्दी के 'प्रवाह' पर आइए, जिसे वर्माजी 'भेड़-चाल' कहते हैं। हिन्दी में समय का परिमाण बतानेवाले, यथा वस्त्र-दूध आदि, मूर्त पदार्थों का परिमाण बतानेवाले बहुत से शब्दों का एकवचन में प्रयोग होता

है, उस सम्पूर्ण परिमाण में एकरूपता मान कर। 'घण्टा' समय का एक परिमाण है; इसी तरह दिन, मास, वर्ष आदि भी। 'सेर' एक तोल है, द्रव्य-परिमाण की गिनती नहीं होती। संख्या की स्थिति दूसरी है। जब परिमाण-मात्र विवक्षित हो, तब संख्या विवक्षित नहीं होती, और सामान्यतः एकवचन बोला जाता है—

१—चार घण्टे में तुमने क्या किया ?

२—सात महीने से वह बीमार है।

३—तीन दिन में तुम चंगे हो जाओगे।

४—चार वर्ष से मैं हैरान हूं।

यहां 'चार घण्टे', 'सात महीने', 'तीन दिन', 'चार वर्ष' इन शब्दों से समय का एक परिमाण विवक्षित है और वह 'एक' है। इसी लिए सर्वत्र एकवचन है। 'चार' आदि शब्द 'घण्टे' आदि की संख्या बतलाते हैं, और फिर 'चार घण्टे' एक निश्चित परिमाण के समय को बतलाते हैं। इसलिए एकवचन है, वैज्ञानिक विधि से।

इसी तरह तौली जानेवाली चीजों के लिए—

१—चार सेर से हमारा काम न चलेगा।

२—दो मन में क्या होगा ?

३—तीन छटाँक से क्या हींग लगेगी ?

यहाँ 'चार सेर', 'दो मन', 'तीन छटाँक' ऐसी चीजों (गेहूं, चने, दूध, आदि) के लिए हैं, जिनकी गिनती नहीं, तोल होती है। 'चार सेर' आदि एक निश्चित परिमाण बतलाते हैं, जिनका अन्वय विशेषण-रूप से होता है। इसी लिए एकवचन। और—

१—चार गजमें एक कुर्ता बन जायगा।

२—दो फुट से काम न चलेगा।

यहाँ भी नाप है, परिमाण है। इसी तरह एकवचन धन का भी परिमाण होता है। पैसा, रुपया आदि धन का एक निश्चित परिमाण बतलाते हैं। इसी लिए—

१—सौ रुपये से क्या होगा?

२—चार पैसे का सेर भर।

३—दस आने का पाँच सेर।

ऐसे प्रयोग होते है। अर्थात् परिमाण-वाचक शब्द के साथ, मिलकर उतना (गुणित) परिमाण प्रकट करते हैं, और फिर वह (गणित) परिमाण भी परिमाण ही है, जिसकी संख्या नहीं। इस लिए, उसमें एकवचन होता है। यही हिन्दी का प्रवाह है, जिसे भंग करके वर्माजी बदलना चाहते हैं।

यदि 'चार सेर' या 'चार मास' आदि से किसी वस्तु या समय का परिमाण विवक्षित न हो, तब बहुवचन का प्रयोग होता ही है—

१—'चार सेरों से और चार छटाँकों से चारो दूकानों का काम चल जायगा; क्योंकि बाकी सब बाँट हैं।'

यहाँ 'सेर' तथा 'छटाँक' किसी चीज का परिमाण नहीं बता रहे; बलिक वे एक तरह के बाँट (तोल-विशेष) के वाचक हैं, जिनकी गिनती होती ही है।

इसी तरह—'दोनों टालों के लिए दो मनों की जरूरत होगी' में 'दो मनों' ठीक है।

२—'बजाजे की दस दूकानों में दस ही गजों से काम चलेगा, कम से नहीं।'

यहाँ 'दस गजों से' उचित है, शुद्ध है। ऐसे स्थलों में एक वचन न होगा, न कोई देता ही है।

वर्माजी यह तो सोच लेते कि एक इतना बड़ा प्रवाह अकारण नहीं चल रहा है। परन्तु मान लो, भाषा का कोई प्रवाह अकारण ही हो, तो उसे कौन बदलेगा? संस्कृत में जैसा व्याकरण का बन्धन है, वैसा कहीं नहीं। परन्तु पाणिनि ने भाषा के प्रवाह को भंग नहीं किया है, कर भी न सकते थे। यदि वैसा करते, तो उनका व्याकरण ही गलत समझा जाता, स्वतन्त्र जाता हुआ वह भाषा-प्रवाह दूषित न हो जाता। 'मैथिली तस्य दाराः' में 'मैथिली' स्त्री-लिंग का मेल पुल्लिग दाराः' से पाणिनि को बे-मेल न लगा होगा? उनके कोनों को 'खटक' न पैदा हुई होगी? फिर 'मैथिली' एकवचन और 'दाराः' बहुवचन! फिर भी दोनो विशेष्य-विशेषण रूप से स्थिर हैं। किसी की हिम्मत न पड़ी कि ऐसे प्रयोग गलत बतला कर कह दे—'दार' शब्द का प्रयोग स्त्री-लिंग में होना चाहिए और एकत्व विवक्षा में एकवचन। ऐसा कहने वाला महामूर्ख समझा जाता। परन्तु हिन्दी की बात ही और है! यहाँ सब 'सिद्ध' हैं।

सर्वे यत्र नेतारः, सर्वे पण्डितमानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति, तद् वृन्दमवसीदति!

जिसे देखो, वही भाषा का परिष्कार करता चला आ रहा है!

भाषा का अपना प्रवाह होता है। 'चील्ह' का हिन्दी में पुल्लिग प्रयोग नहीं होता, 'कौआ' का स्त्री-लिंग नहीं। क्यों नहीं, इसका कोई जवाब नहीं; पर नहीं होता है। अब कोई भाषा-परिष्कारक कहे—'नियम और सिद्धान्त का ध्यान तो रखना ही होगा। 'चील्ह' का पुल्लिग और 'कौआ' का स्त्री-लिंग प्रयोग होगा कैसे नहीं!' ऐसा निश्चय करके वह पुस्तक लिखे और उसे विभिन्न परीक्षाओं में रखवा दे। तो उसके उस उद्योग से क्या भाषा का प्रवाह बदल जायगा? लोग क्या—

१—"कौवियाँ अपने अण्डे कोयल के घोंसलों में रख आती हैं।"

२—"उन चील्हों में एक चील्हा भी है।"

ऐसा लिखने-बोलने लगेंगे? क्या यह 'नियमबद्ध' तथा 'सुव्यवस्थित' भाषा चल सकेगी? कुछ दिन के लिए गोरखधन्धा खड़ा कर देना भर है! भाषा तो जहाँ की तहाँ रहेगी!

१—'गेहूं भर लिए हैं' और २—'धान भर ली है।'

इन प्रयोगों में एकत्र बहुवचन और अन्यत्र एकवचन क्यों है? 'धानें भर ली हैं' क्यों नहीं, जब कि 'चने भर लिये हैं', 'उड़द भर लिये हैं' आदि सब जगह बहुवचन होता है। 'धानें भर ली हैं' यों 'शुद्ध करके' कोई लिखने लगे, तो ठीक होगा? हाँ, कई तरह की धानें भरी हों, तब अवश्य प्रयोग होगा—'धानें ली हैं।' यह प्रकार-भेद बतलाने के लिए। साधारणतः 'धान

भर ली है' चलेगा। वर्माजी ने इस पुस्तक के अन्त में भाषा की प्रकृति और प्रवाह पर बहुत कुछ लिखा है। क्या पुस्तक लिख जाने के बाद उन्हें भाषा की प्रकृति का ध्यान आया? फिर भी, वे प्रकृति तथा प्रवाह के विरुद्ध लिखी ये अनर्गल बातें काट सकते थे। परन्तु सोचा होगा—भाषा का संशोधन करना है! सो, संशोधन आप कर रहे हैं!

६२—"हिन्दी के विभक्ति-चिह्नों (विभक्तियों या कारक-चिह्नों?) और अव्ययों आदि में जितना दुरुपयोग 'को' का होता है, उतना कदाचित् ही किसी अन्य विभक्ति-चिह्न या अव्यय का होता हो। यहाँ हम इस सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें बतलाने से पहले थोड़े से ऐसे उदाहरण दे देना चाहते हैं, जिनमें 'को' बिलकुल जबर्दस्ती और व्यर्थ लगाया गया है।"

इसके आगे आपने उदाहरण दिये है। वे कैसे हैं, उदाहरण लीजिए—

'प्रजा इस भारी कर को सह न सकेगी।'

वर्माजी ने यहाँ 'को' को 'भद्दा' बतलाया है और कहा है कि इसे निकाल दिया जाय, तो वाक्य 'हलका' और 'सुन्दर' हो जायगा। हलका तो जरूर हो जायगा, गौरव जाता ही रहेगा; पर सुन्दर कैसे हो जायगा? यदि नाक को व्यर्थ समझ कर कोई काट दे, कहे कि साँस तो छिद्रों से लेते ही रहेंगे, तो उसके मुख का गौरव जरूर चला जायगा; किन्तु वह सुन्दर भी हो जायगा क्या?

उस वाक्य का मतलब यह है कि यह कर इतना अधिक है,

प्रजा पर ज्यादती है, और प्रजा इसे सहन न करेगी, इसका विरोध करेगी।

यदि 'को' को निकाल दें, तो ऊपर का भाव बिलकुल उड़ जाता है! देखिए—

'प्रजा यह भारी कर सह न सकेगी'

इसका मतलब केवल इतना है कि प्रजा इतना अधिक कर देने में असमर्थ है। बस, और कुछ नहीं। वह विरोध, मुकाबला आदि अब कुछ ध्वनित नहीं होता!

सो, दोनो प्रकार के वाक्य दो भिन्न तात्पर्यों के लिए हैं और प्रसंगानुसार दोनो ठीक हैं। यदि किसी ऐसे प्रसंग से वर्माजी ने वह वाक्य लिया हो, जहाँ पर कर देने की असमर्थता मात्र का जिक्र हो, तब तो 'को' ठीक अवश्य नहीं है। परन्तु आपने वैसा कोई जिक्र ही नहीं किया है! तब उसे गलत कैसे समझा जाय?

कहीं वर्मा जी ने लिखा देखा होगा, या सुना होगा कि 'को' कभी-कभी भाषा को बिगाड़ देता है। उसे ही आप ले उड़े! 'लेखन-कला, तथा 'ब्रजभाषा का व्याकरण' नामक ग्रन्थों में इसकी चर्चा है और ये दोनो पुस्तकें वर्माजी ने पढ़ी हैं! कुछ आप आगे बढ़ गये हैं!

एक किस्सा याद आ गया! एक बार लखनऊ गया। अपने रिश्तेदार डा० के० पी० त्रिवेदी के घर स्टेशन से जा रहा था। वे 'लाल कुआ' वाली सड़क पर रहते हैं। मैं कान्यकुब्ज कालेज की तरफ से गया था। 'छितवापुर चौकी' के आगे सड़क फूटती है। वहीं सामने एक मन्दिर है। उस मन्दिर में 'राधेश्यामी' तर्ज पर

महाभारत की कथा हो रही थी—हारमोनियम की धौंकनी के साथ पण्डितजी ने जोर से आलाप किया—

'तब श्री अर्जुन ने दिया, विजय-शंख को फूॅक'

बड़ा मजा आया। श्रीमती त्रिवेदिन हमारी शाली लगती हैं, शिक्षित और गम्भीर महिला हैं। जाते ही मैंने कहा—'अर्जुन वेधक भी करते थे, शंख फूॅकना भी जानते थे।' उन्होंने तुरन्त कहा—फूकना, या फूँकना ? मैंने वह कड़ी सुना दी। बहुत हँसीं !

सवेरे में पण्डित जी के पास गया, उन्हें समझाया। बात मान ली।

फिर एक दिन मैंने सुना, वे कथा में कह रहे थे—

"मैंने तुम सब देख लिये। तुम बुद्धिमान हो; इसीलिए गम्भीर विषय भी कह जाता हूं।"

'तुम सब देख लिये' मुझे भद्दा लगा। सवेरे फिर गया, और 'को' की सिफारिश की। अब वे झल्लाये ! "आप अपनी पण्डिताई रहने दीजिए। कभी कहते हैं 'को' गलत है, और जब छोड़ दिया जाता है, तब कहते हैं कि 'को' के बिना गलत हो गया !" उनकी भाव-भंगी देख मैं उलटे पावॅ अपने घर पहुंचा !

कुछ ऐसी ही दशा वर्माजी की हुई है ! 'को' का कहीं गलत प्रयोग और उसका परिहार देखा होगा; बस ले उड़े। स्थिति यह है कि कहीं 'को' का प्रयोग होता है, कहीं नहीं। कभी विकल्प होता है ; दे दो, तो भी ठीक और न दो, तो भी ठीक।

१—शेर बकरी को खा गया।

२—राम रोटी खा गया।

ये दोनो ठीक प्रयोग हैं। 'शेर बकरी खा गया' उतना अच्छा न रहेगा; क्योंकि 'खाना' क्रिया का कर्त्ता जब मानवेतर हो, तब कर्म कारक में प्रायः 'को' लगता है। दूसरे वाक्य में 'को' का प्रयोग बहुत भद्दा हो जायगा। और—

१—मैंने लड़की देखी

२—मैंने लड़की को देखा

ये दोनो प्रयोग ठीक हैं और किञ्चित् भाव-भेद भी रखते हैं।

६३—"यह तो हुआ 'को' के अनावश्यक प्रयोग का प्रकार। इस के सिवा कई प्रकार से उसका अशुद्ध प्रयोग भी होता है।" इसके बाद उदाहरण दिये हैं; जैसे—

'उनको समझौते की इच्छा नहीं थी।'

वर्माजी कहते हैं कि यहाँ 'को' की जगह 'की' चाहिए। अर्थात् वाक्य यों होना चाहिए—

'उनकी समझौते की इच्छा नहीं थी'

यदि 'इच्छा' की जगह 'चेष्टा' होता और 'प्रयत्न' के अर्थ में होता, तो अवश्य 'को' की जगह की जमती; जैसे—

'उनकी चेष्टा समझौते की न थी'

परन्तु 'इच्छा' के साथ 'को' ही शुद्ध है। 'उनकी समझौते की इच्छा न थी' बहुत बेढँगा प्रयोग है। हाँ, यहाँ अवश्य 'इच्छा' के योग में 'की' आयेगी—

'उनकी इच्छा भाषा-संस्कार करनेक की है' या—

'भोजन करने की उनकी इच्छा है'।

नीचे के वाक्यों में 'को' ही रहेगा, 'की' नहीं—

१—भोजन करने को मन नहीं करता।

२—उनको समझौते की आशा नहीं।

३—उनको युद्ध की आशंका थी।

४—उनको मिठाई की इच्छा नहीं।

इस तरह के प्रयोगों में 'को' की जगह 'की' बैठ नहीं सकती, बैठा कर देख लीजिए। वर्मा जी समझ नहीं पाये हैं कि कहाँ 'को' चाहिए और कहाँ 'की'! 'सम्मेलन' के बम्बई-अधिवेशन पर समवेत साहित्यिक मित्रों ने 'एलीफेंटा' देखने की प्रेरणा की। समुद्र के बीच में, बम्बई से लगभग बीस मील दूर एक पहाड़ है। उस पहाड़ की सब से ऊँची चोटी को किसी समय शान्ति-प्रिय साहसी जनों ने अपने निवास के लिए चुना था। बड़ी बड़ी गुफाएँ हैं, विशाल मूर्तियाँ हैं और मीठे जल का प्राकृतिक प्रबन्ध है। जो मण्डली देखने गयी थी, उसमें कुछ मदरासी सज्जन भी थे। एक ने मुझसे व्याकरण के सम्बन्ध में चर्चा की और कहा कि 'की' तथा 'के' का भेद गड़बड़ में डालता है, हम मदरासियों को! उन्होंने कहा—"उनकी भैंस' और 'उनके भैंस' इस तरह के प्रयोग तंग करते हैं। कहाँ 'की' दी जाय और कहाँ 'के' इस का पता किसी पुस्तक से नहीं चलता है। आप समझाइए।"

मैं ने कहा, यह तो बहुत सरल बात है। जब 'स्व-स्वामि-भाव' आदि प्रकट करना हो, तब 'के' सदा आयेगा; लिङ्ग-वचन-पुरुष आदि के भेद-भाव वि

१—राम के एक भैंस है, चार घोड़े हैं, दो ऊँट हैं।

२—रमा के जमीन है, जायदाद है, सब कुछ है।

३—इन लड़कियों के कोई सम्पत्ति नहीं है।

४—राम के सन्तान नहीं है।

५—सीता के चार लड़के हैं।

जब ऐसी कोई बात विधेय न हो, तब सम्बन्ध पात्र में 'का', 'के', 'की' का प्रयोग होता है—

१—राम की भैंस घर पर है।

२—रमा की जमीन मैंने देखी है।

३—इन लड़कियों की सम्पत्ति लुट गयी।

४—सीता का लड़का पढ़ता है।

५—राम की सन्तान अवारा है।

इन उदाहरणों में किसी सम्बन्ध की 'विधेयता' नहीं है; इस लिए 'के' न दे कर 'का' के सम्बन्ध-वाचक रूप दिये हैं। विधेयता है—घर पर होने की, देखने की, लुट जाने की, पढ़ने की, और अवारा होने की! इस लिए यहाँ 'के' नहीं है।

मेरी बात उनकी समझमें आ गयी और वे बहुत प्रसन्न हुए। वर्मा जी को भी कुछ वैसा ही सन्देह 'को' तथा 'की' के बारे में है। परन्तु इनका सन्देह और भ्रम सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् को तंग कर रहा है। आप एकदम उपदेश देने लगे कि 'को' हटाओ!

'सरकारी एजेंटों को अपना माल मत बेचो'

इस वाक्य में भी 'को' का प्रयोग गलत बतला कर आप कहते हैं—शुद्ध यों लिखना चाहिए—'सरकारी एजेंटों के हाथ अपना माल मत बेचो।'

समझे न ! इसी तरह—

१—राम को मैंने बैल बेच दिया।

२—गोविन्द को मैंने पुस्तक बेच दी।

वर्मा जी के मतानुसार ये सब गलत हैं। वे चाहते हैं—

१—राम के हाथ मैंने बैल बेच दिया।

२—गोविन्द के हाथ मैंने पुस्तक बेच दी।

ऐसे शुद्ध प्रयोग हुआ करें ! 'के हाथ' न आने से सब गलत ! क्यों गलत, सो मत पूछो ! बस, गलत समझ लो !

इसी विषय पर आगे फिर आप कहते हैं—

"जरा सा ध्यान रखने से ही भाषा इस प्रकार के भद्देपन और अशुद्धि से बचाई जा सकती है। एक और उदाहरण है, जिसमें 'को' का निरर्थक प्रयोग बचाया जा सकता है। जैसे—'उसको' 'हमको' और 'तुमको' आदि को जगह 'उसे' 'हमें' और 'तुम्हें', लिख कर भाषा पर से 'को' का बोझ कम किया जा सकता है।"

यदि हिन्दी से 'को' को बिलकुल हटा ही दिया जाय, तो कैसा रहे ? वर्मा जी शायद यही चाहते हैं ! बहुत बिगड़े हैं ! जानना चाहिए कि राष्ट्रभाषा का पद 'खड़ी बोली' को मिला है और इसकी अपनी असली विभक्ति है 'को'। ब्रजभाषा और अवधी आदि में 'हि' तथा 'हिं' इस अर्थ में हैं—'रामहि कह्यो बुझाइ'—राम को समझा कर कहा ! इस विभक्ति के 'ह' का लोप और स्वर-सन्धि भी प्रचलित हैं वहाँ—'जो कबिरा काशी मरैं, रामैं कौन निहोर ?' रामैं—रामहि, रामइ, रामैं ! 'हि'

कर्म के अतिरिक्त सम्प्रदान आदि अन्य कारकों में भी आती है और सम्बन्ध में भी। 'खड़ी बोली' में 'को' का वैसा ही प्रसार है, जैसा वहाँ 'हि' का। हाँ, 'को' के साथ यहाँ उस 'हि' तथा 'हिं' को भी किञ्चित् स्थान मिला है—कुछ सर्वनामों में, लोप-सन्धि हो कर। शब्द के साथ सट कर ही प्रयोग होता है, 'को' की तरह अलग नहीं। 'हमें', 'तुम्हें' आदि इसी 'हिं' के रूप हैं। 'इसे'-'उसे' में 'हि' है। 'ह' का लोप और स्वर-सन्धि। खड़ी बोली ने यों कहीं अवधी-ब्रजभाषा की चीज लेकर भी अपनी 'को' विभक्ति छोड़ी नहीं है। 'हमें'-'हम को' और 'तुम्हें'-तुम को' साथ-साथ चालू हैं। इसी तरह 'इसे' और 'इस को' आदि। परन्तु अपनी असली विभक्ति 'को' ही है। कोई भी अहिन्दी भाषी जन 'इस को'-'उस को' जल्दी सीखेगा—'राम को', 'सीता को' आदि की-तरह। उसे 'इसे' और 'उसे' उतनी जल्दी और प्रवाह-रूप से समझ न आयेंगे। 'को' की तो धारा चलती है न! वर्मा जी इसे उड़ा कर केवल 'इसे' और 'उसे' चलाना चाहते हैं, बोझ कम करने के लिए! बोझ इस 'को' का हिन्दी पर इतना अधिक है कि वर्मा जी को असह्य हो उठा है!

हिन्दी में 'को' का जितना प्रसार है, अन्य किसी भी विभक्ति का उतना नहीं—

१—राम को अभी कपड़े धोने हैं, कर्ता में।

२—मैं तुम को देख रहा हूँ, कर्म में।

३—तू ने राम को पुस्तक दी थी, सम्प्रदान में।

४—रात को नौ बजे सभा होगी, अधिकरण में।

५—राम को भूख लगी है, नैसर्गिक प्रवृत्ति प्रकट करने में।

६—हम को भी जीने का अधिकार है, सम्बन्ध में। ('जीने का हमारा भी अधिकार है' यह अर्थ। इत्यादि।)

यों 'को' का हिन्दीमें अनन्त विस्तार है और वर्माजीने इसीके छोड़ने पर सबसे अधिक जोर दिया है। इसीका फल है कि अहिन्दीभाषी जन 'अच्छी हिन्दी' पढ़कर, यों 'शुद्ध' हिन्दी लिखने लगे हैं—

१—हमने अभी कपड़े धोने हैं (पंजाबी भाई)।

२—मैंने बम्बई में तुम देखे थे। (मदरासी)

३—तूने रामका भी अधिकार दिया है। इत्यादि।

कैसा परिष्कार हो रहा है, 'को' का बहिष्कार कर के! आगे वर्मा जी फिर कहते हैं—

"कुछ अवसरों पर 'को' का यह रोग लेखकों का एक और प्रकार का अज्ञान प्रकट करता है और उनसे लिङ्ग सम्बन्धी भूलें कराता है। जैसे—

१—उन्होंने भवन की कार्रवाई को देखी।

२—एक अटैची में विस्फोटक पदार्थ भरकर उसको फुहररके नीचे रख दी।

३—अतः इस पुस्तक को मैंने यों ही रहने दी।

४—मैंने इसको तैयार कर दी।"

इस तरह भद्दे उदाहरण वर्मा जी ने दिये हैं और 'को' के सिर सब दोष मढ़ा है! 'को' ने ही लेखकों से ऐसी भद्दी लिङ्ग-सम्बन्धी गलतियाँ करायी हैं! इसे उड़ा दो, सब ठीक! तभी

तो 'राम ने तुम देखे' लिखा जाने लगा है ! और, वैसे भद्दे प्रयोग 'लेखक' करते हैं ! निःसन्देह अहिन्दी-भाषी हिन्दी-लेखक कहीं वैसे प्रयोग कर गये होंगे, जो न उनकी गलती है, न 'को' की है। वह गलती है उन व्याकरण-ग्रन्थोंकी, जिन्हें काशी-नागरी प्रचारिणी सभा ने छपवाया है। उन प्रमाणिक व्याकरण-ग्रन्थोंमें लोगोंने पढ़ा—'हिन्दीमें सकर्मक क्रियाओं के या तो कर्तृवाच्य प्रयोग होते हैं, या कर्मवाच्य; भाववाच्य नहीं,।' इस नियमको रट लिया गया। 'को' कर्म कारकमें प्रसिद्ध है ही, उन व्याकरण—ग्रन्थों में भी। सो, सर्वत्र 'को' के साथ कर्म-वाच्य प्रयोग सकर्मक क्रियाओं का कर दिया गया—'कार्रवाई को देखी इत्यादि ! व्याकरण के उस नियमका ध्यान था; अन्यथा 'को' के साथ यों भाववाच्य प्रयोग होते—

१—उन्होंने कार्रवाई को देखा।

२—अटैची को नीचे रख दिया।

३—इस पुस्तक को यों ही रहने दिया।

४—मैंने इसको तयार कर दिया।

'दिया' पुल्लिङ्ग भाववाच्य में होता; पर कर्म-वाच्य बनाने के चक्कर में सर्वत्र कर्म के अनुसार स्त्री-लिङ्ग 'दी' कर दिया है ! यह 'को' का दोष है, या उस व्याकरण का ? बस, अब रहा-सहा परिष्कार वर्मा जी 'को' उड़ा कर सम्पादित कर देंगे !

'बेटीकी बिदा' कविताकी एक कड़ी है—

'पाल-पोस कर इसको मैंने इतना बड़ा बनाया'। 'को' उड़ा देनेसे कर्म-वाच्य रूप यों होगा, जो वर्मा जी चाहते हैं—

'पाल-पोस कर यह है मैंने इतनी बड़ी बनायी'

'इतनी बड़ी बनायी', कोई इमारत आदि नहीं, लड़की ! व्याकरणकार ने लिखा कि सकर्मक क्रिया का भाववाच्य प्रयोग न लेना चाहिए। इन पंक्तियोंके लेखक ने लिखा कि भाववाच्य ये सकर्मक क्रियाओंके प्रयोग हिन्दीमें होते हैं, और इनके बिना काम नहीं चल सकता ! वर्मा जी 'वाच्य' का नाम न लेकर 'को' के पीछे पड़ गये—'को' हटाओ !

सारांश यह कि ऊपरके प्रयोगोंमें लिङ्ग-सम्बन्धी गलती 'को' ने नहीं करायी है, 'व्याकरण' के उस नियमने करायी है, भ्रम फैला कर ! उसी तरह अब वर्मा जी भ्रमात्मक बातें फैला रहे हैं !

६४—"जिस प्रकार लोग 'को' का व्यर्थ और अनावश्यक प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार कभी-कभी 'का' और 'के' का भी प्रयोग करते हैं।" आगे उदाहरण—

१—वहाँ घमासान की लड़ाई हो रही है।

२—सभ्यता का दाढ़ी का क्या सम्बन्ध है।

३—बनारस का शहर।"

पहला प्रयोग बहुत चुस्त और दुरुस्त है—'घमासान की लड़ाई'। 'घमासान लड़ाई' भी बोला जाता है, यह अलग बात है।

दूसरे उदाहरण में वर्माजी ने 'का' की जगह 'से' देने की सलाह दी है। 'को' को हटाना जो है। हम समझते हैं, प्रेसमें छपते समय 'और' उड़ गया होगा ! वाक्य होगा—

'सभ्यता का और दाढ़ी का क्या सम्बन्ध ?

इसकी जगह 'से' रख कर देख लीजिए। जो ठीक जँचे, मान लीजिए।

'बनारस का शहर' भी ठीक है। ऐसे स्थलों पर 'अभेद षष्ठी' संस्कृत-जैसी परिमार्जित भाषा में भी चलती है। उर्दू में भी—

'यों तो दुनिया के समन्दर में कमी होती नहीं,
लाखों मोती हैं, मगर उस आब का मोती नहीं'

'दुनिया का समन्दर'—दुनिया-रूपी समुद्र। अभेद षष्ठी! हिन्दी में खूब चलन है—'स्वराज्य का उपहार', 'आमों का बगीचा' इत्यादि। वर्माजी ने 'बम्बई का शहर देखो' तमाशेवाले से सुना होगा! वहाँ वह ठीक है! 'ताश का पत्ता' और 'फागुन का मस्त महीना था' इसी तरह के प्रयोग हैं, जो अब 'अशुद्ध' हो जायँगे!

आगे आप कहते हैं—

"कभी-कभी लोग 'के' की जगह भी भूल से 'को' का प्रयोग कर जाते हैं? —जैसे 'उनकी चाची के लड़की हुई है'। 'उनके चाचा के लड़की हुई है' ठीक है; या 'उनके चाचा के यहां अथवा, 'उनके चाचाके घर' यों तो ठीक प्रयोग है; पर 'पर चाची के लड़की हुई है' ठीक नहीं है। होना चाहिए—चाची को लड़की हुई है।"

यह न्याय है। पहले 'को' को बहुत दुतकारा था; अब उस पर कृपा है, और 'के' की जगह भी उसे ही दे रहे हैं? 'सीता के लड़की हुई है, 'उर्मिला के लड़का हुआ है' ये सब गलत प्रयोग हैं? वर्माजी कहते हैं, 'को' लगाओ—

१—'सीता को लड़की हुई है'।

२—'उर्मिला को लड़का हुआ है'।

यों वर्मा जी शुद्ध समझते हैं। या फिर, यदि 'को' ही देना है, तो यों शुद्ध लिखो—

१—सीता के पति के लड़की हुई है।

२—उर्मिला के पति के लड़का हुआ है।

इस तरह शुद्ध भाषा है। या फिर, वर्मा जी कहते हैं कि इस तरह लिखो—

१—सीता के पति के यहां लड़की हुई है।

२—उर्मिला के पति के घर लड़का हुआ है।

'चाची के लड़की हुई है' में गलती क्यों है, लिखा नहीं! स्त्री के सन्तान होना ठीक नहीं' उस के 'पति के' होनी चाहिए, या फिर उसके घर! 'चाचा के घर' किस के लड़की हुई, यह मालूम न पड़े, तो पत्र लिख कर वर्माजी से पूछ लो! प्रत्येक सन्दिग्ध वाक्य को वे शुद्ध करते हैं, और शुद्ध वाक्यके सन्दिग्ध अर्थ को स्पष्ट करते हैं। और! एम० ए० के छात्र इस गम्भीर विवेचन को जरूर थोड़ा-बहुत समझ सकेंगे।

८५—" 'को' की तरह 'के ऊपर' के प्रयोग में भी लोग गलती करते हैं। जैसे—'तुम पैंतीस-चालीस रुपये के ऊपर अलग घर ले कर रहो।"

वर्मा जी 'के ऊपर' की जगह 'पर' लगाना चाहते हैं! दोनों तरह प्रयोग होते हैं—

१—तुम दस रुपये पर घर लेना।

२—तुम दस रुपये के ऊपर घर लेना।

पहले वाक्य में 'पर' का अर्थ है कि इतने किराये का लेना। दूसरे में 'के ऊपर' का मतलब है कि दस रुपये से अधिक किराये का जरा अच्छा घर लेना। वर्मा जी 'के ऊपर' हटा कर सर्वत्र 'पर' लगा कर दूसरों का मतलब ही उड़ा देना चाहते हैं!

आगे आप 'पर' भी काट रहे हैं— "इसी प्रकार पर' का भी प्रायः बे-मौके और भद्दा प्रयोग होता है। यहाँ इसके जो उदाहरण दिये जाते हैं (जा रहे हैं!) उन में से आरम्भिक चार उदाहरण एक ही दैनिक पत्र के एक ही अंक से लिये गये हैं—

१—मैं यह पत्र निश्चय से अधिक लम्बा हो जाने पर क्षमा प्रार्थी हूं।

२—अब मैं आपके २५ फरवरी के पत्र पर आता हूँ।

३—गाँव पर सर्पों का प्रकोप।

४—उन पर इसके अलावा और क्या दोष है?

५—गली बहुत गन्दी थी, और उस पर कूड़े का ढेर लगा था।

"('पर' की जगह 'में' होना चाहिए)"

यह वर्मा जी का विवेचन है, क्योंकि 'पर' उनके कानों में खटकता है! 'खटक' का कारण क्या है, सो कुछ नहीं बतलाया! यदि आप को भी खटक हो, तो 'पर' उड़ा दीजिए, और यदि वैसा न हो, तो मजेदार बातें सुनते चलिए!

मेरे जैसे लोग खटक का अनुभव नहीं करते, पर 'में' तो खटक का घर है, ऐसी जगह, देखिए—

१—मैं यह पत्र निश्चय से अधिक लम्बा हो जाने में क्षमा प्रार्थी हूं।

२—अब मैं आपके २५ फरवरी के पत्र में आता हूं।

३—गांव में सर्पों का प्रकोप।

४—उनमें इसके अलावा और क्या दोष (इलजाम) है?

५—गली बहुत गन्दी थी और उसमें भी कूड़े के ढेर!

चौथे वाक्य में 'दोष', शब्द 'इलजाम' के अर्थ में है और इस लिए 'पर' ठीक है। अथवा, यदि इस अर्थ में न होता तो उक्त वाक्य में अवश्य 'में' ठीक होता।

पांचवें वाक्य में छापे की गलती से 'भी' गायब है, ऐसा जान पड़ता है। 'लगा था' शायद वर्मा जी ने लगा दिया है, वाक्य पूरा करने के लिए!

ऊपर जो उदाहरण गलत वर्मा जी ने दिये हैं, वे हिन्दी में तो गलत नहीं हैं; और चाहे जहां गलत हों। गलती का कारण क्या है? संस्कृत में भी वैसी वाक्य-रचना खूब होती है—

'सत्यपराधे क्षमा-याच्चा'

—अपराध होने पर क्षमा-प्रार्थना ठीक ही है। वर्मा जी ने 'भारत के प्रश्न पर रूस की दिल चस्पी' को गलत बतलाया है और लिखा है कि यहां भी 'पर' की जगह 'में' चाहिए। यानी—

'भारत के प्रश्न में रूस की दिलचस्पी'

वर्मा जी के मत में शुद्ध है! वस्तुतः वर्मा जी छात्रों में भ्रम फैला रहे हैं। ऐसी जगह 'पर' और 'में' दोनो आते हैं, जहां जो जाय, जाय।

वैसी बात सिद्ध करने के लिये प्रमाण देने होंगे, 'ही' से काम न चलेगा। उद्धृत वाक्य में 'ही' बिलकुल ठीक है। उसे हटा लिया जाय, तो वाक्य लँगड़ा हो जायगा। शताब्दीका प्रारम्भिक भाग पचीस वर्ष का होता है, वर्माजी महाराज! कहने वाले का मतलब यह है कि शताब्दीके प्रारम्भिक भाग में बहुत पीछे नहीं, बिलकुल शुरू में! अर्थात् उस शताब्दी की 'प्रथम दशाब्दी में ही' और उस दशाब्दी के भी प्रारम्भिक भाग में! ठीक ठीक संवत् तो नहीं मालूम; पर 'सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही'! यदि 'ही' निकाल दिया जाय, तो फिर यह बात रहेगी! मतलब यह निकलेगा कि 'संवत् १५०१ से लेकर १५२५ तक, इस पचीस वर्ष के लम्बे समय में, कभी वे उत्पन्न हुए थे।' क्या वह निश्चयात्मकता आ पायी? लेखक जो कुछ कहना चाहता है, वह निकला? वर्माजी कहते हैं कि वाद-विवाद चल रहा हो; तब 'ही' देना ठीक होगा, वैसे नहीं। 'सुधियः प्रमाणम्'।

८७—"अनेक परम प्रचलित शब्दों के रूप भी स्थिर नहीं हैं। 'लिए' और 'चाहिए' शब्द भी एक निश्चित रूप में नहीं लिखे जाते! कोई 'लिए' और 'चाहिए' लिखता है और कोई 'लिये' और 'चाहिये'। यह बात नहीं है कि एक लेखक सदा कोई एक ही रूप लिखता हो; और दूसरा लेखक कोई दूसरा रूप ठीक मानता हो।"

यानी एक ही लेखक कभी 'लिये' लिखता है, कभी 'लिए'। इसी तरह 'चाहिये' और 'चाहिए' भी! स्वयं वर्माजी की भी यही स्थिति रही! मेरी 'लेखन-कला' छपने से पहले आप अव्यय 'लिए' और क्रिया-प्रतिरूपक अव्यय 'चाहिए' को 'लिये' और 'चाहिये' ही लिखते थे! 'संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर' में (केवल एक पृष्ठ का) आपका 'निवेदन' है, जिसमें आधे दर्जन से भी अधिक बार यह अव्यय 'लिये' के रूप में ही आया है। वर्माजी अपनी रचनाओं में 'चाहिये' ही लिखते रहे हैं, देख लीजिए। 'लेखन-कला' छपने के बाद आप 'लिए' और 'चाहिए' लिखने लगे!

इस प्रसङ्ग की एक चर्चा जरूरी है। 'सम्मेलन' के दिल्ली-अधिवेशन की बात है, जब अध्यक्ष श्रीमान् बड़ोदा-नरेश चुने गये थे और उनकी अनुपस्थिति में कार्यवाहक अध्यक्ष श्री हरिऔध जी निश्चित हुए थे। एक दिन साहित्यिकों की एक गोष्ठी में आगरे के बाबू श्री गुलाब राय ने कहा—अभी तक यही नहीं मालूम हुआ हम लोगों को, कि 'लिए' स्वर मात्र से लिखा जाय या यकार-सहित! इसी तरह 'गये' में सन्देह है कि यकार-सहित शुद्ध है, या स्वर मात्र से। मेरी ओर प्रश्नात्मक दृष्टि उनकी थी। वे भी अपनी रचनाओं में वर्माजी की तरह वैसे ही प्रयोग करते थे। मैंने उन्हें बताया कि क्या ठीक है और क्यों ठीक है। वे मेरे समाधान से सन्तुष्ट हुए

इस से मैंने अन्दाजा लगाया कि एक ऐसी पुस्तक की जरूरत है, जिसमें इस तरह की बातें समझायी जायँ। फलतः 'लेखन-कला' का जन्म हुआ, जिससे वर्माजी ने भी लाभ उठाया, या

प्रेरणा प्राप्त की ! 'अब "अच्छी हिन्दी' में लिए, और चाहिए, आदि का प्रयोग आपने ठीक किया है। सो एक ही लेखक दोनो तरह से लिखता है। या लिखता रहा है। यह बात बिलकुल ठीक है।

इस विषय को वहाँ बहुत अच्छी तरह समझा दिया गया है; इस लिए यहाँ पिष्ट-पेषण ठीक नहीं। संक्षेप यह कि 'लिए' तथा 'चाहिए' शुद्ध हैं, 'लिये' 'चाहिये' नहीं। यह बात अव्यय 'लिए' की चल रही है—'राम के लिए धोती है' आदि। जो क्रिया है, उसके 'लिये' तथा 'लिए' दोनो रूप शुद्ध हैं। क्यों शुद्ध हैं, इसकी उपपत्ति 'लेखन-कला' में है और बहुत विस्तार से तो 'व्रजभाषा का व्याकरण' नामक मेरे ग्रन्थ में है। आप चाहें तो वहीं देख सकते हैं।

६८—''कोई 'लिए', 'गए' लिखता है, कोई 'लिये' 'गये'। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि हिन्दी में हिज्जे की कोई निश्चित प्रणाली नहीं है।''

हाँ पहले प्रणाली निश्चित नहीं थी; परन्तु अब तो है। आप अब जान-बूझ कर भ्रम फैला रहे है। 'लिया' का बहुवचन 'लिये' है, तब 'य्' उसमें रहेगा ही ! यही बात गया-गये, रुपया-रुपये गया-गयी इत्यादि में है। परन्तु 'ई' तथा 'ए' में 'य्' की स्पष्ट श्रुति नहीं होती, इसलिए व्यर्थ समझ कर भाषा उसे लुप्त भी कर देती है, विकल्प से 'य्' प्रमाण-प्राप्त है इसलिए उसकी सत्ता है और अकिञ्चित्कर है, इसलिए उड़ भी जाता है। फलतः लिये, गये, गयी और लिए, गए, गई यों दोनो तरह ये रूप

चलते हैं; जैसे संस्कृत में 'हर यिह और 'हर-इह'। चलते चलते जो रह जायगा, रह जायगा। पाणिनि व्याकरण में विसर्गों के साथ जिह्वा मूलीय और उपध्मानीय का भी विधान है पर विसर्ग रह गये और वे दोनों प्रायः गायब हो गये !

हमने वहाँ यह भी समझाया है कि 'य्' 'आ' तथा 'ओ' में मिल कर क्यों स्पष्ट उच्चरित होता है और 'ई' तथा 'ए' के साथ क्यों सत्ता खो बैठता है ! 'गया' और 'गयो' में 'य्' क्यों श्रुत है और 'गये' तथा 'गयी' में क्यों नही ? हमने बतलाया है कि अधिक शक्तिशाली कमजोर को अपने में लीन कर लेता है, विशेषतः सजातीय को ! 'य्' का और 'ई' का एक ही स्थान है पर, 'ई' स्वर है, स्वतन्त्र है, जब कि 'य्' पराधीन-वृत्ति ! सजातीय व्यञ्जन (य् आदि) किसी विजातीय स्वर में तो अपनी सत्ता अलग रख सकता है; पर सजातीय में नहीं। कहीं का भी चुल्लू भर पानी गंगाजी में पड़ कर गंगा जी ! सो य् आगे 'ई' से मिल कर दब जाता है बोलता नहीं है। जब बोलती बन्द हो जाती है, तो बस समाप्त ! सत्ता का लोप ! पड़ा रहे तो पड़ा भी रहे ! यह स्थिति है। इसकी विवेचन 'ब्रजभाषा का व्याकरण' ग्रन्थ में किया गया है जिसे वर्माजी ने पढ़ा है; पर उसका जिक्र कहीं नहीं ! सो कोई बात नहीं। अपनी अपनी प्रकृति ! हाँ वे यहाँ अब 'गये' और 'गए' के बारे में ऐसी बातें क्यों करते हैं कि मानो अभी तक कहीं कोई इसकी चर्चा ही नहीं हुई और अब श्रीमान् वर्माजी हिन्दी-संसार का ध्यान खींचने का महान् कार्य कर रहे है ! आगे वर्माजी कहते हैं—

"हिन्दी की एक प्रशस्त प्रणाली होनी चाहिए और लोगों को उस प्रणालीका अनुसरण करना चाहिए। एक बड़ी सीमा तक वह प्रणाली निश्चित भी है।"

वह प्रणाली कहाँ निश्चित है? किस रूप में निश्चित है? किसने कहाँ और किस तरह उस प्रणाली को निश्चित किया है? वर्माजी ने यह कुछ नहीं बतलाया! कहते कहते रह जाते हैं! 'हेतुरत्र भविष्यति!'

६६—'प्रतारण' या 'प्रतारणा' तो ठीक है; पर 'प्रताडना' कहाँ का शब्द है?"

स्कूलों की सातवीं श्रेणी में पढ़ाई जाने वाली संस्कृत की प्रथम पुस्तक वर्माजी ने नहीं पढ़ी है, क्योंकि स्कूल में आप उर्दू-फारसी लिये हुए थे। अन्यथा—'लगुडेन तं ताडयामास' डंडे से उसे मारा, जरूर वे देखते और तब यह पूछने की जरूरत न पैदा होती कि 'प्रताडना' किस भाषाका शब्द है! और भाई वर्माजी प्रतारण या प्रतारणा और चीज है 'प्रताडना' (या 'प्र' अलग करके 'ताडना') दूसरी! इसी 'ताडना'का प्रयोग तुलसी ने किया है—

ये सब 'ताडन' के अधिकारी।

उनसे पूछिए, श्री बी० डी० ऋषि की सहायता से, कि आपने यह ताडन किस भाषा का शब्द लिखा है? लिखना ही था तो 'तारणा' लिखते जिसे 'प्रतारण' का सगा-सहोदर कहा जा सकता! 'ये सब तारणके अधिकारी' समझिए गोस्वामी जी!

खैर हिन्दी में यह ताडन, प्रताडन, प्रताडना की गलती

वह पुरानी है और उसे रूढ़िवादी छोड़ते ही नहीं! सुधारक बेचारे जोर तो लगा रहे हैं।

१००—'खांसना' आदि शब्द प्रायः लोग अनुस्वार से ही लिख चलते हैं, और कुछ लोग 'ढंग' को 'ढँग' भी लिख जाते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए।"

'ऐसा नहीं होना चाहिए' कैसी साधिकार आज्ञा है! 'खांसना, पर जो कुछ कहना है, आगे कहेंगे, जब 'मैं' तथा 'हैं' पर विचार चलेगा। यहाँ तो एक ऐसी बेढंगी बात वर्मा जी ने कह दी है कि जिससे उन का रँग-ढंग कुछ और ही जान पड़ता हैं! भंग-भवानी के भक्त प्रायः छानते समय कहा करते हैं—'ओ भंग के रंग वाले, खाने का ढंग कर, मूँजी को तंग कर' इत्यादि! मालूम होता है, वर्मा जी वहीं-कहीं बैठते हैं; यदि स्वयं नहीं छानते। यदि ऐसा न होता, तो 'ढँग' कहाँ से याद हो जाता और उसे शुद्ध कैसे कहते? तभी तो उन्होंने 'ढँग' स्वीकार नहीं किया और दूसरों को भी उस से दूर रहने की आज्ञा दी है!

वस्तुतः हिन्दी में 'ढंग' शब्द है सानुनासिक, सानुस्वार नहीं। इसी के संग से 'रंग' ने भी रंग बदला और इसके साथ मेल मिला कर 'रँग-ढँग हो गया। 'रंग-ढंग' कोई नहीं बोलता है। वर्मा जी को 'बेढंगापन' पसन्द है; पर लोग इसे 'बेढँगापन' ही कहेंगे! वर्मा जी 'हिन्दी की प्रकृत्ति' पहचानते है न! और क्या कहा जाय?

"यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय, तो 'में' 'हैं' 'क्यों' आदि शब्दों में भी चन्द्र-बिन्दु (अनुनासिक) ही होना चाहिए।

परन्तु यह तब तक सरलता से नहीं हो सकता, जब तक हमारी लिपि में ही आमूल सुधार न हो।"

लो भाई, अब तो लिपि में साधारण कहीं कुछ नहीं, एकदम 'आमूल' सुधार होगा, 'में' आदि में चन्द्र-बिन्दु लगाने के लिए, टाइप में। कारण, वैसे चन्द्रबिन्दु टूट जाते हैं!

वस्तुतः टाइप के लिए कहीं-कुछ सुधार लिपि में होना चाहिए, होगा। परन्तु 'में' आदि में चन्द्रबिन्दु आदि लगाये बिना हिन्दी रसातल को न चली जायगी! 'कहां' 'में' 'हैं' 'क्यों' आदि में अनुस्वार से ही काम चल जाता है, अनुनासिक (चन्द्र-बिन्दु) की वैसी अनिवार्य आवश्यकता है ही नहीं। कारण, दीर्घ स्वरों पर हिन्दी में अनुस्वार सदा अनुनासिक का ही उच्चारण देता है—हिन्दी में दीर्घ स्वरों पर अनुस्वार अपने प्रकृत रूप में उच्चरित होता ही नहीं है! इसलिए, कहीं कोई शक-सन्देह हो ही नहीं सकता! ऐसी दशा में यदि 'में' आदि पर चन्द्रबिन्दु के टाइप नहीं रुकते, नष्ट हो जाते हैं, तो अनुस्वार लगते ही हैं। इसके लिए लिपि में 'आमूल' सुधार का आन्दोलन बेकार है। और बहुत से काम हैं करने के लिए, वर्मा जी महाराज!

१०१—"आज कल एक और प्रवृत्ति दिखायी देती है, जो बहुत-कुछ विवादास्पद है। हिन्दी में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग कुछ बढ़ रहा है! (अब तो घट रहा है?) कुछ लोग कहते हैं कि हमें विदेशी भाषाओं के शब्दों के शुद्ध रूप देने चाहिए और इसी लिए 'गरूर' और 'गलती' आदि न लिख कर 'ग़रूर' और 'ग़लती' आदि लिखना चाहिए। परन्तु यदि इसी तर्क के आधार पर हम

कुछ और आगे बढ़ें, तो हमें 'कमीना' और 'पशमीना' आदि न लिख कर 'कमीनः' और 'पशमीनः' आदि लिखना पड़ेगा। इसी लिए अधिकांश लोग विदेशी शब्दों में विशिष्ट अक्षरों के नीचे बिन्दी लगाने के बिरोधी हैं। हमारी समझ में भी यही बात ठीक है।"

यह प्रवृत्ति कभी 'विवादास्पद' थी, अब नहीं है। अब तो सिद्धान्त मान लिया गया है कि 'गरूर' आदि लिखना हिन्दी में गलत है। हाँ, कोई उर्दू-फारसी का शेर आदि उद्धृत करना हो, तो नीचे बिन्दी लगा कर उसी रूप में अवश्य लो। यह प्रवृत्ति विवादास्पद अब नहीं है, ऐसा मैं क्यों कहता हूं; सो सुनिये।

मैं ने भी बहुत दिन तक इस 'विवादास्पद' विषय पर विचार किया। अन्ततः वैसे शब्दों के नीचे बिन्दी न लगाना ही ठीक जँचा। परन्तु 'विवादास्पदता' कैसे मिटे! इस के लिए मैंने सोचा कि 'सम्मेलन' समस्त हिन्दी-संसार की प्रतिनिधिक संस्था है। वहाँ इसका प्रसंग लाकर निर्णय लिया जाय। तब तो 'कानून' सब मानेंगे! हाँ, चोर-उचक्कों की बात दूसरी है। सो शिमला-'सम्मेलन, में इसी उद्देश्य से मैं गया। दस-बारह वर्ष की बात है 'सम्मेलन, के इस अधिवेशन पर अध्यक्ष तो स्वनामधन्य बाबू शिवप्रसाद गुप्त चुने गये थे; पर उन्होंने इच्छा प्रकट की थी कि श्री पराडकर जी को अध्यक्ष-पद पर आसीन किया जाय। सो, पराडकर जी अध्यक्ष थे। 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' का पचड़ा 'सम्मेलन' में आ रहा था, जिस से साहित्यिक जन

बहुत क्षुब्ध थे और इस अधिवेशन पर पूरी तयारी के साथ लोग आये थे कि सम्मेलन में 'हिन्दुस्तानी' का बीज बोया गया है, उसे उखाड़ फेंका जाय। श्री गौरीशंकर मिश्र, पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, कविवर निराला आदि महारथी सदलबल पहुँचे थे। खूब जमघट था साहित्यिक जनों का। वस्तुतः 'हिन्दुस्तानी' का वह अंकुर सदा के लिए उखाड़ फेंका गया! आगे यह झगड़ा अबोहर में भी थोड़ा रहा। जयपुर-अधिवेशन पर तो दो-टूक बात हो गयी! यह सब लिखने का मतलब यह कि जहाँ मैंने वह 'विवादास्पद' मामला रखा, वह कैसा स्थल था।

मैंने एक प्रस्ताव (मुख्य सम्मेलन में) रखा कि फारसी आदि के 'जरूरत' आदि शब्द हिन्दी में नीचे बिन्दी लगाये बिना ही लिखे जाया करें। श्रद्धेय टंडन जी ने कहा कि जो प्रस्ताव विवाद-शून्य हों, उन्हें सभापति द्वारा रखवा दिया जाय, तो काम जल्दी निपट जाय। अनुमोदन-समर्थन का बखेड़ा दूर होगा। समय कम था, काम अधिक। मेरा प्रस्ताव भी टंडन जी ने वैसा ही समझा और सभापति द्वारा रखवा दिया। परन्तु प्रस्ताव का विरोध हुआ। पं० कृष्णकान्त मालवीय तथा पंजाब के श्री गोकुलचंद नारंग भी विरोध करने वालों में थे। टंडन जी ने प्रस्ताव के समर्थन में कुछ कहा; पर लोग न माने! तब टंडन जी ने कहा कि 'अच्छी बात है, जिनका प्रस्ताव है, उन्हें मैं बुलाता हूं। वे ही सब स्पष्ट करेंगे।'

टंडन जी ने मुझे बोलने के लिए बुलाया। मैं अपने प्रस्ताव के समर्थन में लगभग आध घंटे ही बोला; पर कोई बात किसी

और छूट न पायी। फल यह हुआ कि वातावरण बदल गया। तो भी, मत लेने की जरूरत रही। मत लिये गये। प्रस्ताव प्रायः सर्वसम्मति से पास हुआ ; यानी इतनी बड़ी सभा में केवल पाँच मत प्रस्ताव के विरुद्ध थे। पं० कृष्णकान्त मालवीय ने प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया था।

सो, इस तरह यह प्रवृत्ति दस-बारह वर्ष से पहले तो अवश्य 'विवादास्पद' थी ; पर अब—'अच्छी हिन्दी' लिखते समय—वैसा नहीं है। यह सिद्धान्त है कि हिन्दी में वैसे शब्दों के नीचे बिन्दी लगा कर लिखना गलती है। प्रस्ताव पास हो जाने के बाद मैंने पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिख-लिख कर अपने मत का प्रचार किया, 'सम्मेलन' का निर्णय समझाया। कारण, उस समय नीचे बिन्दी लगा कर लिखने की प्रवृत्ति बहुत ज्यादा थी ; क्योंकि पं० पद्मसिंह शर्मा की शैली का अनुकरण लोग कर रहे थे। शैली तो वह बेचारे पाते न थे ; भाषा जरूर बेढँगी कर लेते थे। मैंने, सच पूछो तो, इसी सिद्धान्त का प्रचार करने के लिये 'लेखन-कला, लिखी, जिस में फिर और-और बातों पर भी विचार हुआ, यह अलग बात है ! परिणाम यह हुआ कि धारा बदल गयी। अब वर्मा जी भी इसी पक्ष में हैं। पहले आप भी वैसे शब्दों के नीचे बिन्दी लगाने के पक्ष में थे, वैसा प्रचार करते थे। १९३३ में 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' छपा, आप का सम्पादित किया हुआ। इस 'सागर' में फ़ारसी-अरबी के वे सब शब्द नीचे बिन्दी लगा-लगा कर ही छपे हैं। इस कोश से भी बेढँगेपन का बहुत प्रचार हुआ है—हिन्दी को

'हिन्दुस्तानी' बनाने में इस कोश का भी बहुत हाथ है! सन् १९३७-३८ में मैंने उस प्रवृत्ति को बदलने का उद्योग किया। सो, अब यह विषय विवादास्पद नहीं है, विशेषतः जब कि वर्मा जी भी समर्थन करने लगे, बिन्दी न लगाने के लिए।

वर्मा जी अपनी कमजोरी छिपाते हैं—"हाँ, यदि कुछ विशेष अवसरों पर हमें किसी शब्द का विशुद्ध रूप दिखलाना ही अभीष्ट हो, तो अवश्य अक्षरों के नीचे बिन्दी लगानी चाहिये।"

यहाँ 'विशुद्ध' शब्द चिन्त्य है। क्या 'ग़रूर' विशुद्ध और 'गरूर' अशुद्ध है? क्या 'गरीब' गलत है और 'ग़रीब' ही 'विशुद्ध' है? तब तो 'हमारी पीठ का फोड़ा' में 'पीठ' भी अशुद्ध होगी! 'पृष्ठ' विशुद्ध है! वर्मा जी को 'विशुद्ध' की जगह 'तत्सम' शब्द देना था, जो उन्हें खूब याद है। परन्तु वे समझे बैठे हैं कि संस्कृत के ही शब्द 'तत्सम' कहलाते हैं, जो अपने उसी रूप में हिन्दी में चलते हैं! अंग्रेजी और दूसरी भाषाओं के कोट, बटन, रूमाल आदि शब्दों को वे 'तत्सम' शायद नहीं समझते। क्यों? इसलिए कि काशी की किसी पुस्तक में वैसा पढ़ा नहीं! एक पुस्तक में शायद पढ़ा भी; पर वह न काशी में लिखी गयी, न वहाँ प्रकाशित ही हुई! इसलिए, उनकी कोई गलती नहीं! इस विषय पर आगे चल कर कुछ कहा जायगा, प्रसंग आने पर!

'कुछ विशेष अवसरों पर' नीचे बिन्दी लगाने की छूट का जिक्र वर्मा जी ने किया है। आप समझे होंगे कि—

१—जब उर्दू-फारसी का कोई पद्य या वाक्य उद्धृत करना हो।

२—जब वैसे शब्द किसी वैसे मुसलमान पात्र के मुख से (नाटक आदि में) निकलवाने हों।

परन्तु वर्मा जी कुछ और कह रहे हैं। सुनिए—"उदाहरण के लिए यदि कोश में शब्द की व्युत्पति दिखलाने की आवश्यकता हो, तो अवश्य ही हमें वहाँ उसका शुद्ध रूप देना पड़ेगा; और वह शुद्ध रूप दिखलाने के हमें आवश्यकता के अनुसार अक्षरों के नीचे बिन्दी भी लगानी पड़ेगी और उनके आगे विसर्ग भी रखना पड़ेगा।"

परन्तु व्युत्पत्ति दिखाने के लिए तो वर्मा जी ने कोश में ब्रेकट से काम लिया है। मुख्य शब्द पहले रखा है, और फिर यह लिखा है कि वह संज्ञा है, या विशेषण आदि। उसके बाद ब्रेकट में उस शब्द का वह मूल रूप रखा है, जिसे आप विशुद्ध, कहते हैं। इस तरह व्युत्पत्ति समझायी है। 'पीठ' रख कर इसकी व्युत्पत्ति समझाने के लिए ब्रेकट में (सं० पृष्ठ) यों लिखा है। परन्तु फारसी–अरबी के वे हजारों शब्द नीचे बिन्दी लगा-लगा कर वर्मा जीने मुख्य रूप से दिये हैं, व्युत्पत्ति समझाने के लिए ब्रेकट में नहीं। देख लीजिए। यही कारण है, मदरास आदि में वैसे शब्दों का उसी रूप में प्रचार हुआ! यही नहीं, इस कोश में हजारों शब्द अरबी-फारसी के ऐसे हैं, जिनका प्रयोग हिन्दी में होता ही नहीं है। हाँ, किसी के हिन्दी-भाषण को 'ठेठ हिन्दी' बनाने के लिए मौलाना आजाद–जैसे लोगों को यह कोश बड़ी मदद देता है! वे फारसी-अरबी के अप्रचलित शब्द अपने उन्हीं रूपों में आते हैं और हिन्दी को रौंदते हैं! वर्मा जी अपनी कमजोरी छिपा रहे हैं, यह और गलती! क्यों नहीं कह देते कि "भूल

से 'शब्दसागर' में ये शब्द उस तरह (नीचे बिन्दी लगा-लगा कर) दिये गये हैं। आगे ठीक कर दिये जायँगे।" वर्मा जी यहाँ ऐसा लिख देते, तो कुछ सुधार भी होता!

कोश की बात चल रही है, तब थोड़ा और कह दूँ! हिन्दी-शब्दों की प्रत्यय-कल्पना जो यहाँ हुई है, उसे देख कर आप दंग रह जायँगे! और शब्दार्थ? कुछ न पूछिए। 'ज्वार' का खुलासा किया गया है—'एक प्रकार की घास, जिसकी बाल के दाने मोटे नाज में गिने जाते हैं।' ढूँढ़िए जंगल में यह घास। 'अव्याकृत' का अर्थ लिखा है—'जिसमें विकार न हो'। यानी अव्यय, परमात्मा! शायद 'अविकृत' ध्यान में रहा है। 'पूर्व वै वागव्याकृता आसीत्' इसका अर्थ अभी तक यह होता रहा है—'पहले भाषा का कोई व्याकरण न था'। वर्मा जी का यह शब्द-सागर पढ़ने-वाले अब शुद्ध अर्थ करेंगे—'पहले भाषा में कोई विकार पैदा न किया गया था!'

बस, इसी तरह समझिए! 'कौन कौन गुन गाऊँ राम के!'

ऊपर आपने कहा है—'कमीनः' और 'पशमीनः' लिखना पड़ेगा!' फिर व्युत्पत्ति बताने के लिए नीचे बिन्दी लगाने के साथ-साथ 'उनके आगे विसर्ग भी रखना पड़ेगा' यह लिख भी दिया है! 'अच्छी हिन्दी' के ही १९३ पृष्ठ पर 'गुजश्तः' आपने लिखा है। परन्तु १५५ वें पृष्ठ पर आप व्यवस्था देते हैं—"कुछ लोग 'वगैरह' आदि शब्द भी विसर्ग से लिखते हैं, जैसे—'वगैरः'। यह भी ठीक नहीं है। इस प्रकार के दूसरी भाषाओं के शब्द विसर्ग के बदले 'ह' से ही लिखे जाने चाहिएँ। विसर्गका प्रयोग केवल संस्कृत

शब्दों के साथ होना चाहिए; जैसे 'अतः', 'स्वभावतः' 'अधःपात' इत्यादि।"

वर्मा जी की यह व्यवस्था देखिए और फिर 'उनके आगे विसर्ग भी रखना पड़ेगा' देखिए! 'शब्द-सागर' की बात जाने दीजिए, 'अच्छी हिन्दी' में ही 'गुजश्तः' 'पशमीनः', 'कमीनः' देख लीजिए! वे कहते भी हैं—'विसर्ग रखना पड़ेगा।' क्या 'गुज़श्तः' आदि शब्द भी संस्कृत के ही हैं? वर्मा जी ही कहते हैं कि विसर्ग संस्कृत शब्दोंके आगे ही चाहिए। यदि 'गुजश्तः' आदि शब्द फारसी-वारसी के होते, तो वर्मा जी 'ह' से लिखते—'गुजश्तह' जो भी हो! विवेचन है!

आखर बात क्या है? असली बात यह है कि 'लेखन-कला' छपने से पहले वैसे फारसी आदिके शब्दों में विसर्ग ही देने की भेड़-चाल थी। वर्मा जी भी उधर ही गये! 'लेखनकला' तथा 'व्रजभाषा का व्याकरण' देखकर चकाचौंध में पड़ गये। कुछ दिखायी दिया, फिर कुछ नहीं! सब समझ में आ गया और लिख भी गये कि केवल संस्कृत शब्दों में ही विसर्गों का उपयोग होना चाहिए; पर पुराने संस्कार! फिर भूल गये और उन फारसी आदि शब्दों के नीचे फिर विसर्ग देने की बात! यों वर्मा जी डगमगा रहे हैं। कहते कुछ हैं, मुँह से निकालता कुछ है! अजब तमाशा है यह भाषा-संस्कार का भी! हिन्दी भी सौभाग्यशालिनी है! 'छह' को वर्मा जी ने कोश में भी 'छः' लिखा है! यह संस्कृत का शब्द है न!

१०२—"विराम-चिह्न हमारे लिए नयी चीज हैं। पाश्चात्य साहित्य की देन हैं।"

'साहित्य की देन' तो कुछ और होती है; मतलब 'साहित्य कारों की देन' से है। वहाँ से सीखा है! लिखना जरूरी था, कृतज्ञता प्रकट करने के लिए। आगे—

"हमारे यहां तो केवल पूर्ण विराम था। संस्कृत भाषा का स्वरूप और व्याकरण ही कुछ ऐसा था (है?) कि उसमें विशेष विराम-चिह्नों की आवश्यकता नहीं होती थी पर हिन्दी का स्वरूप और गठन उससे बहुत कुछ भिन्न है। इसी लिए हिन्दी में अपेक्षाकृत अधिक विराम-चिह्नों की आवश्यकता होती है। हिन्दी में अब भी कुछ ऐसा सज्जन हैं, जो संस्कृत के अच्छे ज्ञाता होने और संस्कृत के प्रभाव में रहने के कारण ही हिन्दी में विराम-चिह्नों की कुछ भी आवश्यता नहीं समझते।"

यानी हिन्दी के वे ही लेखक विराम-चिह्न न देने का या गलत देने का महाअपराध करते हैं, जो संस्कृतज्ञ हैं और संस्कृत के प्रभाव में हैं! वर्मा जी उन्हें ठीक रास्ते पर ला रहे हैं!

अङ्गरेजी और संस्कृत की बात चल पड़ी है। सुनिए, एक बात! हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध लेखक हैं, प्रायः हास्य रस में चलते हैं और आजकल दिल्ली रहते हैं। अब से पन्द्रह-बीस वर्ष पहले वे कानपुर के एक समाचार-पत्र में काम करते थे। उस समय आपने, शायद संस्कृतज्ञों को शिक्षण देने के लिए, विराम-चिह्नों के उपयोग के सम्बन्ध में एक लेख लिखा। वे अंग्रेजी के ज्ञाता हैं और उसी प्रभाव में हैं। मैंने भी वह लेख पढ़ा। मैं अंग्रेजी कतई नहीं पढ़ा और 'संस्कृतज्ञ' न सही, संस्कृत के प्रभाव में जरूर हूँ। मैंने उसी समय, उसी पत्र में, उस लेख पर अपना परिष्कार छपाया और विराम-चिह्नों के सम्बन्ध में उनकी कई मान्यताओं का खंडन

किया। वे मान गये! एक मोटी बात लीजिए, उन अंग्रेजी प्रभाव वालों की। लिखा था कि 'कि' के आगे अल्प-विराम अवश्य देना चाहिए—'राम ने कहा कि, मैं न जाऊँगा।' मैं अंग्रेजी जानता नहीं; इस लिए मुझे यह ठीक न लगा। मैंने कहा कि भाई, यह 'कि' तो स्वयं अल्प-विराम है! तब इसके आगे एक और अल्प-विराम देना किस काम का? व्यर्थ और भद्दा! टोपी पर टोपी! इसी तरह की बातें थीं। वे बेचारे मान गये! अंग्रेजी शायद कम पढ़े हैं! अन्यथा, एक संस्कृतज्ञ की विराम-सम्बन्धी बात में तत्त्व क्या! तभी तो वर्मा जी ने वैसा लिखा है! संस्कृत का प्रभाव तो बहुत गड़बड़ पैदा करता है!

मैंने 'कि' के बाद अल्प-विराम अनावश्यक बतलाया था और कहा कि—

'राम ने कहा कि, मैं न जाऊंगा'

ऐसा लिखना भद्दा है। 'कि' के साथ अल्प-विराम (कामा) लगाये बिना इस तरह लिखना ठीक होगा—

'राम ने कहा कि मैं न जाऊँगा'

हाँ, यदि 'कि' न दें तब फिर जरूर उस तरह लिखें—

'राम ने कहा, मैं न जाऊँगा'

परन्तु ऐसा तभी लिखना अच्छा प्रतीत होता है, जब 'कहा' का कर्म-वाक्य ज्यों का त्यों उद्धृत करने की मंशा हो; जैसे—

रामने कहा, 'मैं न जाऊँगा'

कभी-कभी उद्धरण-दशा न होने पर भी अल्प-विराम सूचक चिन्ह आता है; पर 'कि' के साथ तो किसी भी दशामें न आना चाहिए।

सम्भव है, मेरे इसी विचार से वर्माजी नाराज हो गये हों और यह जो 'कि' के साथ मैं ने अल्पविराम-चिन्ह को अनावश्यक बतलाया, सो उन्हें बुरा लगा हो! शायद इसीलिए उन्होंने लिखा है कि संस्कृतज्ञ तथा संस्कृतके प्रभावमें रहनेवाले लोग विरामचिन्हों को अनावश्यक समझते हैं! 'कि' के साथ अल्प-विराम के चिन्ह को आवश्यक बतलाना उनका बहिष्कार करना हो गया। एक संस्कृतज्ञ के अपराध पर सभी संस्कृतज्ञों को फटकार सहनी पड़ी।

परन्तु हिन्दी की नींव तो संस्कृतज्ञों की ही रखी हुई है, जिन्होंने 'छह' में 'ह' की जगह भी अभ्यास-वश विसर्ग देना शुरू कर दिया था और उनके अनुकरण पर अबतक लोग वैसा ही लिखे चले जा रहे हैं। वर्माजी ने भी 'शब्दसागर' में 'छह' को 'छः' ही लिखा है। 'लेखनकला' में तथा 'व्रजभाषा-व्याकरण' में जब एक संस्कृतज्ञ ने ही बतलाया कि 'छः' गलत है, 'छह' चाहिए; क्योंकि 'छहो' मे 'ह' श्रुत है। विसर्ग देना भूल है, जो उच्चारण-साम्य से चालू हो गये हैं। बतलाया गया कि विसर्ग केवल संस्कृत शब्दों में लगते हैं। तब वर्माजी भी कहने लगे कि विसर्ग केवल संस्कृत शब्दों में लगते हैं। पर वे 'छः' तथा 'गुजश्तः' जो लिख गये थे, सो सब उन संस्कृतज्ञों की गलती जिन्हों ने वैसा लिखना वर्माजी को पहले सिखाया। अजी वर्माजी, संस्कृतज्ञों के कुछ उपकार भी हैं कि नहीं! कभी इस बात का भी आपने कहीं उल्लेख किया है। संस्कृतज्ञों ने ही नागरी लिपि तक की रक्षा की है, अन्यथा इस समय सब 'रोमन' में ही 'हिन्दुस्तानी' लिखते-फिरते। उनके कसूर कुछ माफ भी होने चाहिए।

२०३—"एकबार एक पुस्तक में 'सरहस्य' शब्द देखकर लेखक (वह 'सरहस्य' का लेखक नहीं, 'अच्छी हिन्दी' का लेखक) स्वय चकरा गया था। दोबारा पढ़ने पर पता चला कि यह तो सीधे-सादे 'रहस्य' शब्दके साथ 'स' केवल उपसर्ग के रूप में लगा है। यदि 'स' और 'रहस्य' के बीच मे योग-सूचक चिन्ह होता तो पूर्ण रूप से स्पष्ट रहता।"

पूर्ण रूपसे तो स्पष्ट वर्माजी को भी वह होगया, योगसूचक चिन्ह के बिना भी, पर 'दोबारा' पढ़नेपर! वे 'स-रहस्य' चाहते है। जब यह 'स' किसी दूसरे शब्द के साथ मिल जाता है, तब तो और भी अस्पष्टता आ जाती है; जैसे—सादर, साग्रह, सानुरोधआदि। स्पष्ट करके यों लिखना ठीक होगा—'स-आग्रह', 'स-आदर' 'स-अनुरोध'। इसी तरह 'सजग को स-जग' लिखना चाहिए; क्योंकि 'जग' 'जाग (जागना) का एक रूप है।' सजग लिखने से दुर्बोधता आती है, और वर्माजी जैसे कृतविद्य भी चक्कर मे पड़ जाते है। 'सरहस्य' में खुद चक्कर में पड़ चुके हैं। संस्कृतज्ञ को विशेप सावधान रहना चाहिए।

२०४—"एक सीधा-सादा शब्द 'कुनैन' लीजिए, जो मलेरियाकी प्रसिद्ध औषध है। परन्तु कवि लोग दुष्ट या बुरी आंखोके लिए 'नैन' शब्द के पहले 'कु' उपसर्ग भी तो लगाते हैं और इस प्रकार वे भी 'कुनैन' सामने ला रखते हैं। इस दूसरे अर्थमें यदि यह शब्द इस प्रकार लिखा जाय—"कु-नैन" तो मतलब झट समझमें आ जायगा और पढ़नेवाले को "कुनैन" (दवा) के पीछे न दौड़ना पड़ेगा!"

समझे कुछ? कवि लोग 'कुनैन' बुरे नेत्रों के लिए लिखते ही

हैं ! वर्माजी सब कुछ देख लेते हैं। आप भी ढूँढ़ेंगे, तो मिल जायगा कहीं—बुरे नेत्रोंके लिए 'कुनैन' शब्दका प्रयोग। पर वह भ्रम उत्पन्न करनेवाला है ! जब कोई लिखेगा—

'वाने कुनैननि देख्यो तबै'

तब आप यह भी समझ सकते हैं कि उसने कुनैन (दवा) से देखा ? इस भ्रमको मिटानेके लिए 'कुनैन' करना ठीक होगा। तब फिर दवाके पीछे भागना न पड़ेगा। पर संस्कृतज्ञों की समझ में यह बात आयी नहीं और वे अब तक यही कहते चले जा रहे हैं कि संयोग, वियोग तथा प्रकरण आदि से शब्दार्थ-ज्ञान होता है; भ्रम नहीं रहता ! न जाने उनका यह रूढ़िवाद कब छूटेगा।

इसी तरह स्पष्टता के लिए 'सु उक्ति' लिखना चाहिए। 'सूक्ति' लिखने से कोई 'शुक्ति' समझ ले, तब ? 'श' तो व्रजभाषा में 'स' बन ही जाता है, मात्रा भी छोटी-बड़ी होती रहती है।

सारांश यह कि विराम-चिन्होंका ध्यान सबसे अधिक रखना चाहिए।

आगे इसी योग-सूचक चिन्ह के बारेमें वर्माजी फिर कहते हैं--

"एक और प्रकार के स्थल होते हैं, जिनमें योग-सूचक चिह्नों की आवश्यकता होती है, परन्तु अभीतक हिन्दी वालों का ध्यान उस ओर नहीं गया है। उदाहरण के लिये एक वाक्य लीजिए—'वे जल या स्थल मार्ग से सिंगापुर जा रहे हैं।' इस वाक्य में 'मार्ग' शब्द का 'जल' के साथ भी वही सम्बन्ध है जो 'स्थल' के साथ है। 'जल' के बाद भी उसी प्रकार योग-सूचक चिन्ह लगाना चाहिए, जिस प्रकार 'स्थल' के बाद लगता है। अर्थात् वाक्य का रूप इस प्रकार होना चाहिए— 'जल-या स्थल-मार्ग से'।"

कैसी सूझ है ? न केवल संस्कृतज्ञ ही, हिन्दी-संसार में सभी इस ओर बेखबर है। 'स्थल-मार्ग' तो हो गया, समास है न ? पर 'जल' का 'मार्ग' से सम्बन्ध कैसे हो ? उसके लिए रास्ता या पुल बनाओ, 'मार्ग' ! तक पहुँचने के लिए, जल—या यों 'जल' या पर पहुँच जायगा और फिर वहाँसे एक छलाँग में 'मार्ग' के पास परन्तु यदि 'जल' के आगे—यों मार्ग न बनायें तो वह उतनी दूर कैसे जाय !

वस्तुतः वर्माजी ने नयी चीज दी है। संस्कृतज्ञ लोग समझा करते हैं कि समास में जब 'मार्ग' बँध गया 'स्थल' से—'स्थल-मार्ग' हो गया, तब वह 'जल' के साथ उन्मुक्त रूपसे अन्वित नहीं हो सकता ! खींच-तानसे होता ही है ! पर वर्माजीने उस अन्वय के लिए बहुत हद तक एक मार्ग (—) सुझाकर बड़ा उपकार किया है।

मेरे-जैसे लोग तो 'जल या स्थल के मार्गसे' लिखेंगे, समास किये बिना। योग-सूचक चिह्न लगायेंगे ही नहीं। पर इसीलिए तो वर्माजी की फटकार खानी पड़ती है !

आगे और भी—

"इसी तरह—'निष्ठावान् राष्ट्र ? और 'मातृभाषा सेवक' का अर्थ तभी ठीक तरह से समझ में आ सकता है, जब 'राष्ट्र' के बाद भी योगसूचक चिह्न हो।"

यानी 'निष्ठावान् राष्ट्र—और मातृभाषा-सेवक' शुद्ध रूप है। एक ऊँटकी पूँछसे दूसरा ऊँट बाँध दिया जाता है और वे मजेसे चले जाते हैं। परन्तु यदि दो ऊँटोंके बीचमें एक पेड़ आ जाय

और पिछले ऊँटकी नकेल उस पेड़से बाँध दी जाय; शेष ऊँट आगे जा रहे हैं, तो यह पिछला ऊँट पेड़से बँधा रह जायगा, या उन ऊँटोंसे अपने आपको बँधा समझेगा ? यह 'और' बीचमें उसी पेड़की तरह है। इसके मारे 'राष्ट्र' का सम्बन्ध 'सेवक' से हो ही नहीं सकता, चाहे रस्सीसे इसमें उसे बाँध ही दो—"राष्ट्र-और मातृ..."। जब कि 'सेवक' का 'मातृभाषा' के साथ समास हो गया, तो बस, फिर उसके साथ 'राष्ट्र' लग नहीं सकता। इसलिए बिना समास के 'राष्ट्र तथा मातृभाषा के निष्ठावान् सेवक' इस तरह लिखना चाहिए, एक संस्कृतज्ञ के ख्याल से ! वैसे ये विराम-चिह्न पाश्चात्य (विशेषतः अंग्रेजी) साहित्य की देन हैं हिन्दी को। सो, अङ्गरेजी जाने बिना इनकी बारीकियाँ समझ में आ नहीं सकतीं। और, सब जानते हैं कि इन पंक्तियों का लेखक अंग्रेजी पढ़ा नहीं है ! इसलिए साधिकार (स-अधिकार) वर्माजी-जैसे विद्वान ही कुछ कह सकते हैं। मेरी तो अनधिकार-चेष्टा चलती ही है ! हाँ, 'राष्ट्र' का 'और' से क्यो समास-सम्बन्ध है ?

१०४—"हिन्दी के 'और' शब्दका उच्चारण कुछ और तरह का होता है और संस्कृत के 'गौर' का और तरह का।"

वर्माजी, मैंने भी थोड़ा सा श्रम संस्कृत-साहित्य में किया है और 'गौर' का उच्चारण जानता हूं। हिन्दी मेरी भी मातृभाषा है, और सन् १९१६ से मैं हिन्दी-साहित्य में भी उलझ रहा हूं; इस लिए 'और' से भी परिचित हूं। मुझे हिन्दी के 'और' में तथा संस्कृत के 'गौर' में 'औ' का उच्चारण भेद-शून्य जान पड़ता है,

कुछ भी अन्तर नहीं मालूम देता ! हाँ हिन्दी के 'और' तथा संस्कृत के 'सौभाग्य' में 'औ' का उच्चारण अवश्य भेद लिये हुए है। इसपर क्या बहस की जाय ! आप कहते हैं कि हिन्दी में 'दैनिक' का उच्चारण 'दइनिक' की तरह होता है। होता होगा काशी में ! और सब जगह तो वैसा सुना नहीं !

यानी वर्माजी हिन्दी-संसार के उच्चारण को भी शुद्ध कर रहे हैं। 'दैनिक' आदिका शुद्ध उच्चारण करो, जैसा कि हिन्दी के केन्द्र (काशी) में होता है। काशी में वही होता है, जो वर्माजी बतलाते हैं ! 'दइनिक' और 'अउर' वहीं होंगे।

१०६—वर्माजी ने बड़े अध्यवसाय से 'हिन्दी की प्रकृति' शीर्षक एक महत्वपूर्ण निबन्ध लिखा है और उसे कृपा करके आपने 'अच्छी हिन्दी' के परिशिष्ट-रूपमें पीछे जोड़ दिया है ! सबका निचोड़ ! हिन्दी में यह प्रथम प्रयास है—'हिन्दी की प्रकृति' पर विवेचन का ! सो, वर्माजी ने कहा है—

"आशा है; हिन्दी के विद्वान् इस विषय पर अच्छी तरह विचार करेंगे और यह विवेचन कुछ और आगे बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे।"

'यह विवेचन आगे बढाने का प्रयत्न करेंगे' यानी इस विवेचन को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। 'को' के हटने से भाषा 'अच्छी' बन जाती है। 'इस लडके को कुछ आगे बढ़ाओ' की जगह 'यह लड़का कुछ आगे बढ़ाओ' कितना अच्छा है !

वर्माजी 'हिन्दीकी प्रकृति' कैसी पहचानते हैं, 'अच्छी हिन्दी' की प्रत्येक पंक्तिसे स्पष्ट है। उसीका कुछ दार्शनिक या वैज्ञानिक ढंग से यहां यह विवेचन है ! आगे इसी विवेचन की बानगी लीजिए।

"उर्दू वाले यह न कहकर कि—'उसने एक नौकर से पूछा।' कहते हैं—'एक नौकर से उसने पूछा।' यह है भाषा की प्रकृति की परख।"

उर्दू-हिन्दी का भेद कितनी जल्दी समझा दिया! सो, 'मां से उसने कहा'; ऐसे जो वाक्य हिन्दीमें हैं, वे हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध हैं, उर्दू-प्रकृति के हैं! उर्दू में भी 'उसने मुझसे पूछा'; यह गलत होगा; क्योंकि इसमें हिन्दी प्रकृति है। चाहिए—'मुझसे उसने पूछा'। क्या जानें उर्दू लिखना बेचारे अकबर इलाहाबादी!

१०७—"बँगला वाले (बँगले में बैठने वाले नहीं; बंगभाषा-भाषी) बहुत बड़े पण्डित को कहते हैं—'मस्त पण्डित, तो हम बहुत बड़े मकान को कहते हैं—'दंगल मकान'।"

क्या भाषा-प्रकृति की बारीकियाँ हैं! हिन्दी में 'दंगल मकान' मालूम हुआ है, 'बड़े मकान' के अर्थमें! यही तो भाषा-प्रकृति है! मदरासी भाई भी हिन्दी की प्रकृति समझ जायँगे और तब 'अच्छी' हिन्दी लिखेंगे—"वे लोग एक दंगल मकान में बैठे बातें कर रहे थे!"

भगवान् जल्दी वह दिन लायें!

१०८—"यदि हम 'हानि करना' या 'स्मरण करना' कहें तो वह किसी का अनुकरण न होगा—(ठेठ हिन्दी है)। पर यदि हम 'हानि पहुँचाना' या 'याद दिलाना' कहें तो वह अवश्य दूसरों का अनुकरण हो जायगा; क्यों कि उस अवस्था में हम अपनी भाषा की प्रकृति से दूर हो जायंगे।"

इस लिए, न 'किसी को हानि पहुँचाओ' और न 'किसी को कुछ याद दिलाओ'! दूसरों का अनुकरण हो जायगा! किस

का अनुकरण हो जायगा, सो तो वर्मा जी ने नहीं वताय; पर अनुकरण किसी का हो, वुरा है! कोई अच्छा अनुकरण भी वुरा है! तव तो जो विराम-चिन्ह हिन्दी को पाश्चात्य साहित्य की देन हैं; उन्हें भी नमस्कार करना होगा। और 'अनुकरण हो जायगा', इसमें हेतु देखा?

"क्यों कि उस अवस्था में हम अपनी भाषा की प्रकृति से दूर हो जायगे।"

इस लिए वह जरूर अनुकरण है। मतलव शायद यह है कि तव वह हमारी भाषा की प्रकृति से दूर पड़ जायगा; क्योंकि वह दूसरों का अनुकरण है!"

अच्छा जी, अनुकरण वह यदि भाषा में रस गया हो, तो? तो भी ठीक नहीं? हां, नहीं ठीक; क्यों कि उसमें खटक है; वर्मा जी को। और लोगों को खटक इस लिए नहीं मालूम होती, क्यों कि वे सव हिन्दी की प्रकृति से परिचित नहीं हैं। सो 'उस ने हमें वड़ी हानि पहुँचायी' ऐसा गलत लिखना सदा के लिए वन्द हो जाना चाहिए, और प्रत्येक अवसर पर 'उसने मेरी हानि की' लिखना वोलना चाहिये। इसी तरह 'याद दिलाना' छोड़ो और उसके वजन पर 'स्मरण दिला देना' भी वन्द करो। केवल 'स्मरण करा देना' ऐसा लिखा करो। यह हिन्दी की प्रकृति समझो।

२०६—"'कागजात' कहना इसलिए हिन्दी की प्रकृति के विरूद्ध होगा कि हमारे यहां कोई ऐसा नियम नहीं है जिससे 'कागज' का वहुवचन 'कागजात' वनता हो।"

कोई कहे कि 'कागजात' लिखा-बोला जाता है तो हजम समझो और उस के लिए नियम बना लो। लक्ष्य के अनुसार नये-नये नियम बनते ही हैं ; तो उसकी बात वर्मा जी न मानेंगे वे 'कागज' का बहिष्कार नहीं कर रहे हैं; केवल 'कागजात' नहीं चाहते !

मेरे-जैसे लोग कहते हैं कि ऐसे एकाध रूढ़ शब्द ज्यों-के त्यों चलेंगे। 'कागजात देखे जा रहे हैं' की जगह 'कागज देखे जा रहे हैं' से काम न चलेगा। हाँ, 'कागज-पत्र' से काम लो, तब दूसरी बात है। परन्तु 'कागजात' की जगह अपने ढँगसे बहुवचन बना कर वह काम लो, तो न बनेगा। 'कागजात मौलाना देखेंगे' को 'कागजोंको मौलाना देखेंगे' का रूप नहीं दिया जा सकता। यही बात 'आदाबअज' में है। यदि नाटक आदिमें ऐसा प्रयोग करना हो, तो किसी वैसे पात्रके मुखसे 'आदाबअर्ज' ही कराया जायगा। 'अदब' के एक वचन 'अदबअर्ज' से काम न चलेगा, न 'अदबोंका अर्ज' होगा। इसी तरह हिन्दीमें अखबार शब्द है, 'समाचार पत्र' के अर्थमें। 'अखबार' है 'खबर' का बहुवचन। साधारण प्रयोगोंमें हम 'खबरें आ रही हैं' ऐसा ही बोलें—लिखेंगे—'अखबार आ रही हैं' नहीं। परन्तु 'समाचार-पत्र' के अर्थ में 'अखबार' ही रहेगा। 'खबरें' न होगा। हाँ, आप हिन्दी से इस रूढ़ अर्थ में इस शब्द का प्रयोग ही हटा दें, यह और बात है। इसी तरह 'बाजारसे कागज खरीद लिए' होगा, 'कागजात खरीद लिए' नहीं। परन्तु 'वकीलने कागजात देख लिये' होगा—'कागज देख लिये' नहीं। सारांश यह कि किसी दूसरी भाषाका जो शब्द जिस रूपमें हमारे यहाँ किसी

अर्थमें रूढ़ हो गया है, उस में (वचन आदि का) कोई परिवतन न होगा। यह बात ऐसे इने-गिने रूढ़ शब्दोंके बारेमें है। शेप सब जगह विदेशी शब्दोंके वचन आदि हिन्दी व्याकरणके अनुसार बनेंगे। इतना निवेदन वर्माजीकी सेवामें, बहुत डरते-डरते!

११०—"हमारे व्याकरणके अनुसार 'वकील' से भाव वाचक संज्ञा 'वकीली' ही बनेगी, 'वकालत' नहीं।"

अर्थात् अब आप लोग 'वकालत' करना बन्द करें, 'वकीली' किया करें; क्योंकि हिन्दी-व्याकरण में कोई ऐसा नियम नहीं, जिससे 'वकालत' बन जायगा! यह माना कि 'वकालत' हिन्दी में चालू है; 'वकीली' कहीं नहीं; पर 'व्याकरण' में उस के लिए कोई नियम नहीं है! जब कि हिन्दी मे 'वकालत' है, तो व्याकरणकारको नियम बनाना चाहिए; ऐसा भी मत कहो। जैसा किसी भूगोल की पुस्तक में वर्णन है, गंगाजी को उसी तरह बहना चाहिए। यह नहीं कि जिस तरह गंगा जी बहती हैं, वैसा वर्णन किया जाय! साहित्य तो साहित्य ही है, नियम भी नियम है। एक 'वकालत' के लिए नियम न बनाया जायगा! 'वकीली' हिन्दी-प्रवृत्तिके अनुसार है!

कैसा सुन्दर विवेचन है! वर्मा जी 'वकील' शब्द का ही बहिष्कार कहने की सलाह देते, तब तो कोई बात भी थी; पर 'वकालत' की जगह 'वकीली' की वकालत करना उन्हीं के योग्य है! और यह भाव-वाचक 'ी' प्रत्यय कहाँ का है?

संस्कृति में पाणिनि ने एक शब्द ('विश्वामित्र') के लिए एक

सूत्र बनाया ! वर्मा जी कभी तो व्याकरण को बुरी तरह आड़े हाथों लेते हैं, और कहते हैं—हम व्याकरण के पचड़े में न पड़ेंगे, हिन्दी का प्रवाह देखेंगे। परन्तु दूसरे ही क्षण आप व्याकरण की दुहाई देने लगते हैं और कहते हैं कि यह शब्द व्याकरण-विरुद्ध है ! हिन्दी का 'दीनानाथ' शब्द वर्मा जी शुद्ध मानते हैं, या अशुद्ध? भगवान् 'दीन अनाथ' नहीं हैं ! क्या हिन्दी वाले उन्हें गाली देते हैं? वर्मा जी ने 'दीनानाथ' शुद्ध माना है, अपने 'शब्द-सागर' में इसे स्थान दिया है। पर, क्या यह व्याकरणके अनुसार ठीक है? एक मजे की बात यह कि वर्मा जी ने संस्कृत 'दीननाथ' का तद्भव रूप इसे माना है ! पर संस्कृत में 'दीननाथ' कहाँ इस अर्थ में आया है, यह आपने नहीं बताया ! 'दीनानाथ' हिन्दी में घुल-मिल गया है। यह छोड़ा नहीं जा सकता। जब तक छूटता नहीं, तब तक हिन्दी में इसे कोई अशुद्ध नहीं कह सकता, संस्कृत में चाहे जो हो। व्याकरण में इस के लिए नियम बनाना होगा कि—"षष्ठी तत्पुरुष समास जब 'दीन' शब्द के साथ 'नाथ' का हो, तो 'दीन' के 'न' का अकार दीर्घ हो जाता है—दीनों के नाथ—'दीनानाथ' !" इसी तरह अन्य प्रचलित शब्दों के बारे में समझिए। कोई शब्द आप हटायें और वह हट जाय, तो ठीक। परन्तु यह कह कर वह नहीं हटाया जा सकता, हट नहीं सकता, कि हमारे व्याकरण मे इस के लिए कोई नियम नहीं है !

१११—"आज कल लोग प्रायः प्रश्नात्मक वाक्यों में 'क्या' बिलकुल अन्त में रखते हैं। जैसे—'आप वहाँ जायँगे क्या?' 'उन्हों ने आप को पुस्तक भेज दी क्या?' पर इस प्रकार के प्रयोग भी

हिन्दी की प्रकृति के नितान्त विरुद्ध हैं, और पहले-पहल बंगला-अनुवाद की कृपा से हिन्दी में आने लगे थे। अब तो मराठी के सम्पर्क के कारण इन का प्रचार और भी बढ़ गया है। पर हमारी भाषा की प्रकृति कहती है कि ऐसे प्रयोग हमारे नहीं हैं। और इसी लिए त्याज्य हैं। हिन्दी में तो 'क्या आप वहाँ जायँगे' आदि कहना ही ठीक होगा।"

पहले बतलाया जा चुका है कि जोर देने के लिए वाक्य में किसी-किसी शब्द का प्रयोग अन्त में होता है। वही बात इस 'क्या' के सम्बन्ध में है। अन्त में 'क्या' रख देने से हिन्दी की प्रकृति बिगड़ नहीं गयी! हिन्दी ऐसी छुई-मुई नहीं है। 'क्या' अन्त में पहुँच जाय, तो स्वभावतः उस (प्रश्न) पर जोर आ जाता है।

और यदि बँगला अथवा मराठी के सम्पर्क में आने से हिन्दी ने कोई बात उनकी सीख ली तो इतना घबड़ाने की क्या बात है? हम वर्माजी की बात मान लेते हैं कि 'क्या' का अन्त में प्रयोग हिन्दी में पहले नहीं होता था। हमने यह भी मान लिया कि यह बँगला से हिन्दी में अनुवाद की कृपा का फल है! तो इससे बुरा क्या हुआ? न तो अनुवाद करना वैसा बुरा है, जैसा आप 'कृपा' से ध्वनित कर रहे है और न प्रयोग-वैचित्र्य आ जाना ही बुरा है। मराठी का सम्पर्क आप को अखरता क्यों है? अभी तो हमारी भाषा भारत की ही अपनी सगी बहनों से मिल रही है; आगे इसे बाहर भी जाना है। कहीं से कोई अच्छी बात सीख ली जाय तो बुराई क्या है? हाँ 'क्या बुराई है' कहूं—

१—क्या बुराई है ?

२—बुराई है क्या ?

इन दोनों वाक्यों में कुछ अन्तर मालूम देता है ? यदि हाँ, तो बतलाइए कि 'क्या' का प्रयोग अन्त में किये बिना कैसे काम चलेगा ?

अच्छा, हिन्दी ने यह सब बँगला और मराठी से सीख लिया और यहाँ चल रहा है। तब आप को क्या ? हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध यह है ? कैसे जान पड़ा कि उसकी प्रकृतिके विरुद्ध है ? आपको खटकता है ? खटकने दीजिए कोई बात नहीं। 'बहुमत' का आदर कीजिए।

यह तो हुआ वर्माजी की सेवा में निवेदन—नहीं 'यह तो वर्माजी की सेवा में निवेदन हुआ' कहूं !

शुद्ध और हिन्दी की प्रकृतिके अनुकूल, दुम-विहीन वाक्य।) अब पाठकोंसे कुछ कह दूं। कहना यही है कि आप वर्माजी जैसे 'सिद्धसरस्वतीक' लोगोंके झमेले में न पड़ें। सिद्ध लोगोंकी बातें सबकी समझमें आती नहीं हैं ! (ओह ! 'नहीं' का प्रयोग अन्तमें हो गया ! 'नहीं आती हैं' कहना चाहिये') और कभी कोई बात समझमें आ जाय, तो उसका पालन करना कितना कठिन ! इस 'आदि अन्त' की ही बात ले लीजिए। कुछ ठिकाना है सावधानीका ! राम राम ! सावधानी का कुछ ठिकाना है ! मैं अभ्यास कर रहा हूं, ठीक प्रयोग का ! परन्तु आप इन झगड़ोंमें न पड़ कर जैसा स्वाभाविक रूप आपके मन में आये, वैसा लिखते-बोलते रहें।

११२—" कुछ अवसरों पर जब हम अरबी-फारसी आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं, तब हमें उनके साथ विभक्ति भी उन्हीं भाषाओंकी प्रकृतिके अनुसार लगानी पड़ती है। उदाहरणार्थ हम अपने यहां के 'पीछे' के साथ 'से' विभक्ति लगाते हैं। जैसे —'पीछे' से कुछ लोग आकर हुल्लड़ मचाने लगे। पर यदि हम 'पीछे' की जगह अरबीका 'बाद' शब्द रखें, तो हमे उसके साथ 'को' या 'में' रखना पड़ेगा।"

यानी किसी भाषाका कोई शब्द हिन्दी ले, तो उसे अपनी प्रकृतिके अनुसार नहीं, उन भाषाओंकी प्रकृतिके अनुसार, अपनी विभक्तियां लगा कर प्रयुक्त करे! धन्य!

मतलब यह है कि 'पीछे' के साथ कोई और विभक्ति लगती है और 'बाद' के साथ कोई दूसरी। हिन्दी यह सब अपनी प्रकृति के अनुसार करती है! परन्तु उपर्युक्त स्थलमे वर्माजी ने कहा क्या है? 'पीछे' के साथ 'से' और 'बाद' के साथ 'में' के वैसे प्रयोगका मेल क्या? उस अर्थ मे 'बादमें' बैठेगा कैसे? 'पीछे से का अर्थ 'पीठ की ओरसे' नहीं है क्या? अच्छा, तो मुझे अपने अज्ञानसे भ्रम हुआ। वर्माजी तो भ्रामक प्रयोग करते नहीं हैं! 'पीछेसे' का मतलब यहां है—'इसके पीछे'—'इसके पश्चात्'। तब तो 'इसके बाद' की तरह यह भी किसी दूसरी भाषाकी प्रकृतिके अनुसार विभक्ति-प्रयोग हुआ! और 'पीछे' तथा 'बाद' दोनोंके साथ 'के' आ जमा! क्या अन्तर रहा? क्या 'पीछे' भी अरबी-प्रवाहमें बह गया?

यही 'हिन्दीकी प्रकृति' है! सूक्ष्म विवेचन है!

११३—"अरबीमें 'जल्द' क्रिया-विशेषण है और उससे संज्ञा 'जल्दी'

बनती है। हिन्दीमें हम 'जल्दी' का व्यवहार क्रिया-विशेषणके रूपमें भी करते हैं। उसका क्रियाविशेषण वाला रूप 'जल्द' हमारी प्रकृतिके अनुकूल नहीं पड़ता।"

'हमारी प्रकृति' का मतलब है—'हिन्दीकी प्रकृति'। वर्माजी की या हिन्दी-भाषियों की प्रकृति न समझ लीजिएगा। 'जल्दी' का दो तरहसे हिन्दीमें प्रयोग होता है—

२—क्रियो-विशेषण तथा २—संज्ञा के रूपमें।—

१—जल्दी काम करो (क्रिया-विशेषण)

२—हमें बहुत जल्दी है (संज्ञा के रूप में)

परन्तु यहां अरबी की प्रकृतिका ध्यान नहीं रखा गया!

इसी पृष्ठ पर टिप्पणीमें—"अब कुछ लोग साहित्यमें भी इस प्रकारके प्रयोग करने लगे हैं। जैसे—'मैं भी कहूँ क्या बात है। यहाँ 'कहूँ' 'कहता था' या 'सोचता था' के अर्थमें लाया गया है!'

वर्माजी इसे ठीक नहीं समझते। उनके मतानुसार सही प्रयोग यों चाहिए—

१—मैं भी कहता था, क्या बात है!

या

२—मैं भी सोचता था, क्या बात है!

'मैं भी कहूं, बात क्या है' दूषित प्रयोग है! पाणिनिने देखा कि आसन्न भूत और भविष्यत् के अर्थ में वर्तमान के प्रयोग संस्कृत में हो रहे हैं, तो उन्होंने व्याकरणमें लिख दिया कि संस्कृत में ऐसे प्रयोग होते हैं—'वर्तमानसमीप्ये वर्तमानवद्वा' वर्तमान के समीप भूत या भविष्यत् कालकी क्रिया का प्रयोग विकल्पसे

वर्तमानकी ही तरह होता है। परन्तु वर्माजी पाणिनि जैसे कच्चे आचार्य नहीं हैं! सुधार तो सुधार! सुधार और भाषा की प्रकृति को पहचानना, ये दो ध्येय वर्माजीके हैं!

११४—"हम प्रायः दूसरी भाषाओंके प्रभावमें पड़ कर अपनी भाषा की प्रकृति बिलकुल भूल जाते हैं और उससे बहुत दूर जा पड़ते हैं! एक वाक्य है—'सरकार जानती है कि राजे और नवाब हमारे विरुद्ध नहीं जा सकते।' इसमें का 'विरुद्ध नहीं जा सकते' अंग्रेजी Cannot go against का अविकल अनुवाद है और हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है। हमारी प्रकृतिके अनुरूप होगा—'विरुद्ध नहीं हो सकते' अथवा 'विरुद्ध नहीं चल सकते'।"

'जाना' नहीं, 'चलना' दे सकते हैं! वैसा प्रयोग अंगरेजीसे हिन्दीमें आया है, या अंगरेजीमें ही हिन्दीसे गया है, यह सब विचार वर्मा जी ने कर लिया है। उनका मत है--अंग्रेजीसे हिन्दी में आया! अच्छा, आया, खराबी क्या? प्रकृति-विरुद्ध है! कैसे जान पड़ा कि हिन्दी की प्रकृतके विरुद्ध है? क्योंकि वर्माजीको खटकता है!

परन्तु संस्कृतमें भी तो वैसे प्रयोग होते हैं—

'ते राजानो न नः प्रतीपं गन्तुं शक्नुवन्ति'

—वे राजा हमारे विरुद्ध नहीं जा सकते।

सम्भव है, संस्कृतमें भी अंग्रेजी-प्रभाव काम कर रहा हो। कालिदास आदि ने भी ऐसे प्रयोग किये हैं; इससे जान पड़ता है कि उन्होंने अंग्रेजी से अनुवाद कर-कर के आगे बढ़ना सीखा होगा।

उपसंहार

इस तरह संक्षेप में 'अच्छी हिन्दी' का परिचय दिया गया। नमूना भर है। ऐसे अनन्त प्रयोग वहाँ हैं। सब नहीं लिखे जा सकते। उन प्रकारों के नमूने दे दिये गये हैं। अच्छी हिन्दी सीखने के लिये ये नमूने ही पर्याप्त हैं!

सोचा मैंने उषःकाल में, मा का भवन सजाऊँ!
अभिनव अर्थ उपार्जित कर के, मैं भी भेंट चढ़ाऊँ!
किन्तु भक्त-पद-प्रक्षेपों से, धूल यहां भर आई;
रहा बुहार उसी को तन्न से, यों सब उम्र गँवाई!

इति टीका समाप्ता।

परिशिष्ट

'हिन्दी-प्रयोग' का नमूना

यहाँ हम 'हिन्दी प्रयोग', की चर्चा करेंगे। यह 'हिन्दी प्रयोग' अभी-अभी सामने आया है और इसे 'अच्छी हिन्दी' का बच्चा ही समझना चाहिए। वे ही सब बातें, उसी भाषा में! सो, पिष्टपेषण तो हमें करना नहीं है, जहाँ-कहीं कुछ विशेषता है, वहीं जरा ठहरना है। इसका भी नमूना चाहिए। तभी हिन्दी की प्रकृति ठीक-ठीक समझ में आ सकती है। 'हिन्दी प्रयोग' की जन्म-कथा पहले सुन लीजिए। वर्माजी 'भूमिका' में कहते हैं—

"प्रायः दो वर्ष पहले मैंने 'अच्छी हिन्दी' नामक पुस्तक लिखी थी। उस पुस्तक में मैंने हिन्दी भाषा में होने वाली सैकड़ों-हजारों प्रकार की भूलों की ओर हिन्दीवालों का ध्यान खींचने का प्रयत्न किया था। हर्ष का विषय है कि उस पुस्तक के कारण बहुत-से लोगों का ध्यान भाषा की शुद्धता की ओर हो चला है। सभी प्रकार के लेखक भाषा की शुद्धता की आवश्यकता मानने लगे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में तो उक्त पुस्तक का इतना अधिक आदर हुआ कि एक-डेढ़ वर्ष के अन्दर ही देश भर के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों और हिन्दी की बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ लेनेवाली संस्थाओं ने उसे अपने यहाँ के पाठ्य-क्रम में रख लिया। अब इतना हो गया है कि जो एक बार वह पुस्तक ('अच्छी हिन्दी') पढ़ लेंगे, वे बहुत-सी भूलों से अनायास बच जायँगे।"

हर्ष का विषय और बढ़ गया है कि यह 'हिन्दी प्रयोग' भी देश भरकी हिन्दी-परीक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक बन गया है!

वर्माजी आगे फिर भूमिका में कहते हैं—

"परन्तु मैं समझता हूँ कि भाषा की शुद्धता की ओर विद्यार्थियों का ध्यान और भी पहले दिलाना चाहिए। विश्वविद्यालयों आदि में पहुँचने पर तो विद्यार्थियों की भाषा बहुत कुछ मँज चुकती है। वे एक विशेष प्रकार की भाषा लिखने के बहुत कुछ अभ्यस्त हो चुकते हैं। उस समय उनकी भाषा में बहुत अधिक सुधार नहीं किया जा सकता। पर यदि उससे कुछ और पहले ही उन लोगों को बतला दिया जाय कि भाषा लिखने में कितने प्रकार की और कैसी-कैसी भूलें होती हैं, तो वे आरम्भ में ही उन भूलों से बचने लगेंगे और आगे चल कर वे निर्दोष और शुद्ध भाषा लिखने लगेंगे। यही सोच कर यह पुस्तक ऐसे विद्यार्थियों के लिए लिखी गयी है, जिन्हें व्याकरण का साधारण ज्ञान हो चुका हो। अर्थात् आजकल के स्कूलों के नवें-दसवें दरजों के विद्यार्थियों या उनके समान योग्यता रखने वाले अन्य विद्यार्थियों के हित के लिए यह पुस्तक लिखी गयी है।"

मतलब यह कि, 'यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्' और चूँकि बूढ़े तोतों को 'राम-राम' पढ़ाना कठिन है, इसलिए छोटे छात्रोंके लिए यह 'हिन्दी प्रयोग'! परन्तु बहुत छोटे नहीं, जिन्हें व्याकरण का साधारण ज्ञान हो चुका हो! वैसे भाषाके लिए व्याकरण को एक 'पचड़ा' ही वर्माजी समझते हैं; पर तो भी भाषाकी शुद्धता के लिए वह जरूरी है!

'हिन्दी प्रयोग' छोटे लड़कोंके लिए तो है ही; किन्तु वर्माजी कह रहे हैं—

"इस ("हिन्दी प्रयोग") में भाषा की शुद्धता से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी ऐसी बातें बतलायी गयी हैं, जो अच्छे अच्छे लेखकों के लिए भी बहुत अधिक उपयोगी हो सकती हैं।"

इसलिए, आपको 'हिन्दी प्रयोग' से भी परिचित करा देना

जरूरी है। हिन्दी-परिष्कार का थोड़ा-बहुत पुण्य यों हमें भी मिल जायगा—'अच्छी हिन्दी' के साथ 'हिन्दी प्रयोग' की चर्चा चला देने के कारण।

'हिन्दी प्रयोग' लिखनेका उद्देश्य तो वर्माजी ने बता दिया; अब प्रेरणा की बात सुनिए—

[क] "अपने आदरणीय मित्र पटने के राय ब्रजराज कृष्ण जी का मैं बहुत अधिक अनुगृहीत हूं, जिन्होंने प्रायः एक वर्ष पूर्व 'अच्छी हिन्दी' देख-कर मुझ से कहा था कि यदि इसी प्रकार की एक पुस्तक हाई स्कूलों के विद्यार्थियों के लिए बन जाय, तो बहुत अच्छा हो।"

इसमें 'पटने' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'कलकत्ते के छात्र' में 'कलकत्ते' की तरह 'पटने' है! साधारण लोग 'पटना के' ऐसा लिखते हैं। वर्माजी कह रहे हैं—'पटने के' लिखो! उनका कहना है कि जब 'कलकत्ता' का 'कलकत्ते' हो जाता है, तब 'पटना' का 'पटने' क्यों नहीं!

बात ध्यान देने योग्य है! 'कलकत्ते से' प्रयोग होता है और उसी तरह 'कलकत्ते जाना है' इत्यादि भी। परन्तु 'पटने का', 'पटने से' या 'पटने जाना' आदि प्रयोग नहीं होते है, न होने ही चाहिए। संस्कृत में 'शशांक' की तरह 'मृगांक' होता है, पर 'शशी' की तरह 'मृगी' नहीं होता। संस्कृत-व्याकरण से 'मृगी' भी बन सकता है—'मृगोयस्यास्ति' इस विग्रहसे। परन्तु भाषाका प्रवाह उसे ग्रहण नहीं करता। 'आकाशे मृगी दृश्यते' प्रयोग करनेवाला मूर्ख समझा जायगा! इसी तरह 'कलकत्ते से' होता है, 'पटने से' न होगा! भाषाका प्रवाह वैसा नहीं है। क्यों भाषाका प्रवाह ऐसा

है, इसका जवाब भी सोचकर दिया जा सकता है। भाषा सदा सन्देह और भ्रम से बचती है। 'मृगी दृश्यते मया' का अर्थ यह भी हो सकता है कि मैं हिरनी को देख रहा हूं। 'मृगी' का अर्थ 'चन्द्रमा' उतनी जल्दी ग्रहण किया भी नहीं जा सकता; क्योंकि प्रसिद्धि नहीं। इसीलिए चन्द्रमा के अर्थमें 'मृगी' शब्दका व्यवहार नहीं होता।

'पटने' में भी यही बात है; साथ ही फूहड़पन भी! "द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यमर्थम्" वाली बात हो तब तो ठीक है, परन्तु यदि वैसा न हो, तब? मैं साहित्यिक प्रयोग की चर्चा कर रहा हूं। साधारण जन तो चाहे जैसा बोलते ही रहते हैं। इसीलिए 'पटने' नहीं, 'पटना' प्रयोग होता है।

आप कहेंगे, तब फिर 'गयाके वियोगीजी' प्रयोग क्यों होता है, 'गये के' क्यों नहीं? यहां क्या सन्देह, भ्रम या अश्लीलता है? इसपर निवेदन है कि आकारान्त पुल्लिङ्ग संज्ञाओं के ही वैसे एकारान्त रूप हो जाते हैं, सामने विभक्ति आनेपर, या उसका लोप हो जाने पर भी। 'खम्भे से', 'कन्डेमें', 'पंडे ने', इत्यादि। परन्तु आकारान्त स्त्री-लिङ्ग शब्दों के रूप में वैसा परिवर्तन नहीं होता—'लता से फूल गिरे' प्रयोग होता है, 'लते से' नहीं। इसी तरह 'मथुरा से', 'मथुरे से' नहीं। 'गया' शब्द भी संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग है। सप्त-पुरियों में एक 'गया' भी है। उसी (स्त्रीलिङ्ग-स्मरण) से 'गये के वियोगीजी' नहीं होता; यद्यपि पुल्लिङ्ग-व्यवहार करते हैं। रेलपर बैठे हुए कहते हैं—'गया निकल गया क्या?' 'बलिया'

स्त्रीलिंग नहीं, तो भी 'वलिये जाना है' या 'वलिये से' न होगा। इसी तरह 'कुष्टिया का'। 'कुष्टिये से' या 'कुष्टिये जाना है' या 'कुष्टिये के' न होगा। 'दतिया' का भी 'दतिये के' आदि नहीं होता। तब 'कलकत्ता' भी इसी रास्ते जाय तो अच्छा, अन्यथा उसे वैसा चलने दो।

एक बात और कह दी जाय और फिर भूमिका से आगे बढ़कर और सामग्री देखी जाय।

वर्माजी ने इस पुस्तक का नाम सर्वत्र 'हिन्दी प्रयोग' ही लिखा है, 'हिन्दी-प्रयोग' या 'हिन्दीप्रयोग' नहीं। इस का कारण आप ने समझा ?

'ब्रजभाषा का व्याकरण' नामक पुस्तक में काशी के स्वर्गीय कवि 'प्रसाद' के हिन्दी-प्रयोगों की चर्चा आयी है, 'समास' तथा 'वचन' के प्रसंग में। उन्होंने 'कामायनी' में एकवचन और बहुवचन का का कोई भेद न रख कर 'निरंकुश' प्रयोग किये हैं। समस्त पदों को उन्होंने मिला कर भी नहीं लिखा है, न योग-सूचक [समास-सूचक] चिह्न ही लगाया है। इससे उस दुरूह काव्य की दुरूहता और भी बढ़ गयी है, छात्रों के लिए। उन्होंने जो किया, ठीक ! परन्तु उनके अनुकरण पर और लोग भी वैसा न कर चलें, इसके लिए वह प्रसंग चलाया गया, जो काशी-वासी वर्मा जी को बहुत बुरा लगा। आपने अपनी 'अच्छी हिन्दी' में 'मुक्त व्यापार' पर चर्चा करते-करते व्यवस्था दे दी कि 'हिन्दी में समस्त पद मिला कर नहीं लिखे जाते हैं'। अपनी उसी व्यवस्थाके अनुसार 'हिन्दी'

और 'प्रयोग' को अलग-अलग लिखा है, मिला कर नहीं ! आपने यद्यपि 'अच्छी हिन्दी' में योग-सूचक [-] चिह्न का प्रयोग ऐसे अवसरों पर अत्यन्त आवश्यक बतलाया है; यहाँ तक कि 'कुनैन' को 'कु-नैन' लिखने का आदेश दिया है; परन्तु 'हिन्दी प्रयोग' में उसका प्रयोग नहीं किया गया है। 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा' ! नयी बात सूझ गयी और 'अच्छी हिन्दी' का भी परिष्कार इस नयी पुस्तक में कर दिया गया। सम्भव है, 'कामायनी' के उन सहस्रशः प्रयोगों का यह मूक समर्थन हो, जहाँ समास होने पर भी न एक पंक्ति में आवद्धता है, न योग-सूचक चिह्न से योग है; फिर भी सम्बन्ध है, जैसे अनन्त का सम्बन्ध 'सान्त' से रहता है !

[ख] वर्माजी ने 'हिन्दीप्रयोग' पुस्तक के प्रथम प्रकरण की प्रथम पंक्ति का प्रथम अक्षर 'हर' दिया है—'हर भाषा में कई प्रकार के शब्द होते हैं।' यद्यपि वर्मा जी विशुद्ध हिन्दी के समर्थक हैं, 'हिन्दुस्तानी' के नहीं; परन्तु फिर भी कांग्रेसी राज्य है, जो 'हिन्दुस्तानी' का समर्थक है। बताना यह है कि हम भी तुमसे दूर नहीं ! इसी लिए प्रथम शब्द 'हर' है।

एक बात और। प्रारम्भिक शब्द मंगलवाची देने की पुरानी चाल है। 'हर' तो मङ्गलस्वरूप हैं ही—अशिव-वेश शिव ! सो, यहाँ 'भाषा-श्लेष' का चमत्कार समझ लीजिए। यह भी ध्वनित किया कि हिन्दी का परिष्कार काशी पर अवलम्बित है। 'हर' की नगरी काशी ही है न ! यों कई तत्त्व हैं 'हर' शब्द का प्रथम प्रयोग करने में।

[ग] "संस्कृत के जो शब्द हम ज्यों के त्यों काम में लाते हैं, वे 'तत्सम' कहलाते हैं।"

वर्माजी ने 'तत्सम' शब्दका लक्षण यह इसलिए लिखा, क्योंकि काशी की 'साहित्यरत्नमाला' नाम की पुस्तक-माला जो उनके सम्पादकत्व में निकल रही है, उसकी एक मणिरूप पुस्तक में ऐसा ही लिखा है। परन्तु "वृज-भाषाव्याकरण" में आपने पढ़ा कि संस्कृत ही नहीं किसी भी दूसरी भाषा के शब्द ज्योंके त्यों जो ले लिये जाते हैं, वे सब 'तत्सम' या 'तद्रूप' शब्द हैं, जैसे—जल, कोट, रूमाल, आदि। वर्माजी ने यह बात भी समझ ली। पुरानी बात भूले नहीं; इसलिए पहले ऐसा लिख दिया कि संस्कृत के वैसे शब्द 'तत्सम' हैं। फिर "वृजभाषा-व्याकरण" ने जोर मारा, तब दो ही पृष्ठ आगे आप लिखते हैं :—

" 'पलटन' 'प्लैटून' का और 'कोचवान' 'कोचमैन' का तद्भव रूप है।"

यह तो 'तद्भव' की बात हुई, जिसे आपने संस्कृत शब्दों का परिवर्तित रूप कहा है। अब 'तत्सम' देखिए—

"सवाल, जवाब, पेंसिल, फुट, बूट, आदि शब्द परकीय होने पर भी अपने 'तत्सम' रूप में ही हिन्दी में चलते हैं।"

तो क्या 'सवाल' आदि शब्द संस्कृत के हैं? संस्कृत 'परकीय' भाषा है? या वह लक्षण गलत है! वर्मा जी वस्तुतः खींचतान में पड़े हैं! 'साहित्यालोचन' में याद किया हुआ लक्षण भूल नहीं रहे हैं, और "व्रजभाषा का व्याकरण" तथा "लेखन-कला" का भूत उनके सिर पर चढ़ कर कुछ और ही बोल रहा है! जिन छात्रोंके लिए यह पुस्तक लिखी गयी है, उन्हें असन्दिग्ध ज्ञान चाहे न हो,

ऊहापोह की शक्ति उनकी बढ़ जायगी जरूर। दो तरह की बातें पढ़ कर फिर विचार करेंगे, निष्कर्ष निकालेंगे ! इसी लिए वर्माजी ने उन्हें जरा चक्कर में डाल दिया है !

[ग] "जब हम 'कल' का प्रयोग 'कल-रव' और 'कल-नाद' सरीखे शब्दों में करते हैं, तब वह 'तत्सम' ही रहता है। पर जब हम उसका प्रयोग 'आनेवाला दिन' के अर्थ में करते हैं, तब वह संस्कृत 'कल्प' से निकला हुआ होने के कारण 'तद्भव' होता है।"

इससे कई बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि 'कलरव' जैसे चिड़िया करती हैं, उसी तरह शेर आदि 'कलनाद' करते हैं— 'मधुर गर्जना', यह नयी बात वर्मा जी ने बतायी ! दूसरे 'आने वाला दिन' के अर्थमें संस्कृत वाले प्रायः 'श्वः' शब्द का ही प्रयोग करते हैं। वे 'कल्प' भूलते जा रहे हैं ! वर्मा जी ने इसकी याद दिलायी ! उसी 'कल्प' से हिन्दी का 'कल' बन गया है !

वर्माजी शब्द-व्युत्पत्ति करने में बड़े निपुण हैं। एक संस्मरण है। बहुत दिन की बात है, आचार्य द्विवेदी जीवित थे, पर लेखनी-संन्यास था ! हिन्दीमें धमा-चौकड़ी मच चली थी। गलत शब्दों की तथा शब्दों के गलत प्रयोगों की भरमार थी। उस समय तक आचार्य रामचन्द्र वर्मा को जोश न आया था और मन ही मन शायद वे कुढ़ जरूर रहे होंगे ! चन्द्राभावे दीपक-प्रयोगः—मैंने उस समय प्रयाग के 'भारत' में एक लम्बा लेख लिखा, इन्हीं गलत शब्द-प्रयोगों पर ! उस लेख को आचार्य द्विवेदी जी ने भी पढ़ा और बहुत प्रसन्न हुए। एक पत्र भेज कर अपनी प्रसन्नता प्रकट की और यह भी लिखा कि "उन बहुत से बेचारे शब्दों में

"स्फुट' भी है, जिसे आप छोड़ गये हैं। आजकल लोग 'फुटकर' के अर्थ में 'स्फुट' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं !" द्विवेदी जी का यह पत्र हिन्दीसाहित्य-सम्मेलनके संग्रहालय (प्रयाग) में सुरक्षित है।

मैंने खोज की, यह 'स्फुट' शब्द 'फुटकर' के अर्थ में चल कैसे पड़ा। संस्कृत में तो यह 'स्पष्ट' या 'विशद' का अर्थ देता है! खोजते-खोजते 'संक्षिप्त हिन्दीशब्दसागर' में जाकर तत्त्व मिला! इस ग्रन्थमें वर्मा जी ने 'फुटकर' का पर्य्याय 'स्फुट' भी दिया है और 'स्फुट' का अर्थ 'फुटकर' भी बतलाया है! 'फुटकर' को आपने अपने इस कोश में संस्कृत 'स्फुट-कर' का तद्भव रूप माना है। यानी संस्कृत में जो 'स्फुट-कर' शब्द ('फुटकर' के अर्थ में) है, उसीका तद्भव-रूप हिन्दीका 'फुटकर' है। 'स्फुट' के आगे जो 'कर' है, उसे आपने 'प्रत्यय' बतलाया है। कितनी नयी बातें मालूम हुईं ? 'स्फुट'का अर्थ कोशमें 'फुटकर' तो बतलाया ही है वर्माजी ने।

द्विवेदीजी की प्रेरणासे मैंने काम शुरू किया। 'लेखन-कला' लिखी, जो उनके सामने प्रकाशित न हो सकी! इसके बाद 'व्रजभाषा का व्याकरण' बना। बस, फिर तो आचार्य श्री रामचन्द्र वर्मा सामने आ गये और 'हिन्दी-सुधार' की धूम मच गयी। 'कल्प' से 'कल' की तरह अनन्त शब्दों की व्युत्पत्ति वर्माजी ने अपनी प्रतिभा से दी है! बधाई!

[घ] "कहीं 'पावे', कहीं 'पाये', कहीं 'पावे' और कहीं 'पाए' नहीं लिखना चाहिए। भूत और वर्तमान काल में 'पाये' और भविष्यत् काल

में (विशेषतः 'गा' के साथ) 'पावे' रूप ही हिन्दी में माना जाता है। जैसे—'हमने सौ रुपये पाये थे [या हैं]।' और 'वह सौ रुपये पावेगा'।"

वर्माजी कहीं तो कहते हैं कि कहीं 'पाये' और कहीं 'पावे' लिखना ठीक नहीं है और कहीं फिर तुरन्त ही कह देते हैं कि यहां 'पाये' लिखो और यहां 'पावे'! वे भविष्यत् काल में 'पावेगा' लिखने का उपदेश देते हैं क्यों? क्योंकि उन्हें ऐसा अच्छा लगता है। अच्छा क्यों लगता है? इसलिए कि वे काशी में रहते हैं, जहाँ साधारण जन-भाषा 'य' की जगह 'व' ग्रहण करती है। मेरठ-मुरादाबाद के मध्य 'पाया' और व्रजमें 'पायो' चलता है, सर्वत्र 'य'। परन्तु वर्मा जी की ओर 'पावा', 'खावा', 'गवा', 'आवा' यों बोलते हैं! सो, 'आयेगा' या 'आएगा' वर्माजी को भला नहीं लगता, उनके कानों में खटकता है और इसीलिए यह 'अच्छी' हिन्दी नहीं। वे कहते हैं—'आवेगा' कहना-लिखना चाहिए! व्रजभाषा-साहित्यमें कुछ पूरबी प्रयोग जरूर आये हैं। 'जैहैं' आदि क्रियाएँ वहीं से आयी हैं और खप गयी हैं—'राधिका जीहैं तौ जीहैं सबै न तौ पीहैं हलाहल नन्द के द्वारे' अच्छे प्रयोग हैं। साथ ही 'करैगो' आदि भी चलते हैं। 'व' भी कहीं-कहीं आ गया है—'एती बृजबाला मृगछाला कहां पावैंगी,। कहना चाहिए, व्रज की बोलीमें भी यह 'व' यत्र-तत्र आ जमा है। व्रज के 'हू' आदि अव्यय पूरब में चले गये हैं। वहां 'मेरठी' का 'भी' नहीं लिया गया! 'तुम हू चलिहौ का ?'। यह 'हू' व्रज का है। स्वयं 'मेरठी' ने भी व्रज का 'हू' ले लिया है और वह 'भी' के अर्थ में तो नहीं, समष्टि-सूचन के लिए चल रहा है।—'चार हू दिसाते चारि' व्रजभाषा है

और 'चारो दिशाओं से' मेरठी बोली का सुसंस्कृतरूप-राष्ट्रभाषा। 'हू' के 'ह्' का लोप और 'र' के 'अ' के साथ 'ऊ' की सन्धि-'औ'। हिन्दीकी अपनी सन्धियों में 'अ', 'इ' मिल कर 'ए' नहीं, प्रायः 'ऐ' हो जाते हैं और 'अ'; 'उ' या 'अ', 'ऊ' मिल कर 'औ'। करहि, करइ, करै। यों आदान-प्रदान होता है सही; पर किसी की आज्ञा से नहीं। 'आएँगे नाथ तव' जब चल रहा है, तब इसे 'आवेंगे नाथ' करने का आन्दोलन वर्माजी क्यों चला रहे हैं? खटक मिटाने के लिए? सो यह होगा नहीं। उनका काम व्यर्थ जायगा। आप 'जायगा' को भी 'जावेगा' चाहते हैं (!) एकरूपता भी चाहिए, खटक भी अपनी मिटनी चाहिए! जहाँ जैसा रुचे आचार्य को! यदि कोई 'जाने न पावे' लिख देता है, तो हम उसे गलत नहीं कहते। वैसा भी प्रयोग होता है। परन्तु सर्वत्र 'गा' के साथ 'व' कर देने का आदेश तो बड़ा विचित्र है। वैसा ही, जैसा श्री अनुभूतिस्वरूपाचार्य का 'पुंक्षु' बोलने-लिखने का फतवा था! किसने माना? असल में है क्या? 'जाइयो' की 'इ' का 'य' हो जाता है—'जायगा'। हाँ 'पावैगो' का 'पावेगा' है। प्रवाहमें उसे भी 'पायेगा', 'पाएगा' होना पड़ता है।

[ङ] "तात्पर्य यह है कि शब्दों की अक्षरी या हिज्जे सदा ठीक और एक-सी होनी चाहिए! कहीं 'कुँअर' और कहीं 'कुँवर', कहीं 'रिआयत' और कहीं 'रियायत', कहीं 'हलुआ' और कहीं 'हलुवा' न लिखना चाहिए।"

यानी 'कुँअर' तथा 'कुँवर' आदि द्विरूपता वर्माजी के मतमें ठीक है; पर एक लेखक को अपनी एक रचना में कहीं 'कुँअर'

और कहीं 'कुँवर' न लिखना चाहिए। ठीक है न? एकरूपता इसी को तो कहते हैं! किसी रचना में ही 'हिज्जे' की एकरूपता चाहिए! छात्र 'कुँअर' ठीक समझें, या 'कुँवर'? 'अच्छी हिन्दी' में शतशः प्रयोगों में इसी तरह पाठकों को उलझाया है; पर छात्रोंको तो माफ कर देते! उन बेचारों की समझ में क्या आयेगा कि आपने क्या सही समझा है!

[च] "'आज हम लोग अपने प्रधान अध्यापक के यहाँ गये थे और वहाँ हम लोगों ने उनसे देर तक मुलाकात की।' इसमें 'देर तक' व्यर्थ है। कारण यह है कि मुलाकात में वह सारा समय आ जाता है, जिसमें आदमी किसीके पास जाता है, उससे मिलता है, बैठ कर उससे बातें करता है। और अन्त में उससे विदा होकर लौटता है।"

समझ लिया परिष्कार? अब 'नेहरूजी की राजर्षि टंडनसे तीन घंटे तक मुलाकात हुई' यह सब गलत! 'मुलाकात' में सब आ जाता है! कितनी देर तक मुलाकात हुई यह अपने आप समझमें आ जाता है; क्योंकि 'मुलाकात' में वह सब भरा हुआ है!

और भी—

"'चुनाव में विरोधी की जमानत बुरी तरह से जब्त हो गयी' में 'बुरी तरह से' व्यर्थ है। जमानत जब्त होने के अच्छे और बुरे प्रकार नहीं होते। वह तो कुछ विशेष अवस्था में एक ही तरह से जब्त होती है।"

सावधान! अब आगे पास होनेवाले लड़कोंकी 'प्रथम श्रेणी' 'द्वितीय श्रेणी' और 'तृतीय श्रेणी' ये विभिन्न श्रेणियाँ भी बन्द होंगी! पास होनेके ये प्रकार नहीं हो सकते! एक हद से कम नंबर जिन्हें न मिलें, वे सब 'पास'; बस! और 'राम तो बहुत अच्छी तरह पास है' में 'बहुत अच्छी तरह' तो बिलकुल व्यर्थ है!

अभी तक चाल संसार में यह है कि यदि सौ में तैंतीस नंबर लेने पर पास होता है और पचास से ऊपर लेनेपर 'द्वितीय श्रेणी' मिलती है, तो तैंतीस-चौंतीस नंबरवाले को लोग 'पास है' कह देते हैं; पर यदि ४०-४५ या इससे अधिक (पर पचास से कम) नंबर किसीने लिए, तो कहा जाता है कि 'वह तो बहुत अच्छी तरह पास है'। पचास से ऊपर के लिए तो 'द्वितीय श्रेणी' ही 'अच्छी तरह' पास बतलायेगी। इसी तरह बत्तीस नंबर लेने वाला 'फेल' और दस ही पांच नंबर लिये हों, तो 'बुरी तरह फेल' कहा जाता है। अब वर्माजी यह सब बन्द कर रहे हैं! चुनाव में निश्चित संख्या से एक भी कम वोट यदि किसी के आये, तो उस की जमानत जब्त हो जाती है; परन्तु यदि उम्मीदवार की पेटी बिलकुल खाली हो, या कहने भर को दो-चार वोट आ गये हों, तो कहा जाता है कि उसकी जमानत 'बुरी तरह से' जब्त हो गयी। पर साम्यवाद के इस युग में वर्माजी ये सब प्रकार-वैषम्य उड़ा देना चाहते है!

[छ] वर्मा जी व्याकरण-विचार कर रहे हैं—"हमारी हिन्दी में धातुओं वाला तत्व है ही नहीं। हमारे मत में हमारे यहाँ की सब क्रियाएँ भाववाचक संज्ञाओं से बनी हैं।"

बड़े खोज की बात है! अभी तक लोग धातु-कल्पना किये बैठे थे! वर्मा जी कहते हैं कि नहीं, यह कल्पना गलत है। 'बोलना' आदि 'भाव वाचक' संज्ञाओं से ही क्रियाएँ बनती है, ऐसा मानते हैं। 'बोलना' से आप 'बोलनता है', 'बोलनेगा' इत्यादि रूप न बना लीजिएगा! वे कहते हैं कि इस 'ना' को अलग

कर दिया जाता है। 'ना' अलग कर के जो अंश रह जाता है, उसे ही लोग 'धातु' कहते हैं; क्योंकि "बोलेगा" 'बोला था" 'बोलता है' आदि सब जगह वह (बोल) विद्यमान है। इसी लिए, मूल तत्त्व होने के कारण उसे 'धातु' कहते है। वर्मा जी कहते हैं कि उस अंश को 'धातु' कहने का बखेड़ा हटाओ! संस्कृत भाववाचक संज्ञाओं से हिन्दी भाववाचक संज्ञाएँ बन गयीं और उन से फिर क्रियाएँ। अमरीका से यहाँ सोना (धातु) नहीं, बनी-बनायी अँगूठियाँ आयीं, जिन में कुछ परिवर्तन यहाँ कर लिया गया, देश की प्रवृत्ति के अनुसार। फिर इन्हीं अँगूठियों को गला कर विविध आभूषण बने! यह कहना कि सोना अमेरीका से आया, गलत बात है, और यह कहना भी गलत है कि सोना नाम की धातु है, जिसके आभूषण बनते हैं! अँगूठियों का रूप कुछ बदल दिया, पिघला कर! बस; इन्हीं परिवर्तित-रूप अँगूठियों से सब आभूषण बनते हैं। यह है नयी 'थ्योरी' व्याकरण की!

आगे—"हम ऊपर कह आये हैं कि 'ना' हमारे यहाँ प्रत्यय के रूप में नहीं था; बल्कि वह संस्कृत की कुछ क्रियार्थक अथवा भाववाचक संज्ञाओं से सीधा आया था।"

यानी संस्कृत की भाववाचक 'वचन' आदि संज्ञाओं से 'न' हमारे यहाँ 'ना' बन कर आ गया; इस लिए प्रत्यय नहीं! संस्कृत में चाहे कुछ हो! यहाँ न धातु की जरूरत और न 'ना' को प्रत्यय कहने की!

वर्मा जी ने संस्कृत की क्रियार्थक क्रियाओं से 'ना' आया बतलाया है और क्रियार्थक क्रियाओं को ही भाववाचक संज्ञा कहा

है ! पर वहाँ क्रियाथक क्रियाएँ तो—पठितुम्, कर्तुम्, यातुम्, श्रोतुम् आदि हैं ! इन में 'न' या 'ना' कहाँ है, जो हिन्दी में आ गया ? हाँ भाववाचक संज्ञाओं में 'न' अवश्य होता है ! आप जानते है, वर्माजी को यह 'क्रियार्थक क्रिया' कहाँ से याद हुआ, और भ्रम का कारण क्या है ? आप ने 'ब्रजभाषा का व्याकरण' देखा। वहाँ 'क्रियार्थक क्रिया' का जिक्र है और लिखा है कि भाववाचक संज्ञाएँ क्रियार्थक क्रिया के रूप में भी आ जाती हैं—'पढ़ना' भाववाचक संज्ञा है। 'पढ़ना मुझे अच्छा लगता है' और 'राम पढ़ने स्कूल जाता है' में 'पढ़ना' क्रियार्थक क्रिया है। यह हिन्दी की बात है। वर्मा जीने सोचा होगा कि जैसा हिन्दी में है, वैसा ही संस्कृत में होगा ! इसी लिए लिख दिया—'क्रियार्थक अथवा भाववाचक संज्ञाओं से ··· !'

और भी—

"'धीरे-धीरे लोग अपने सुभीते के विचार से और काम चलाने के लिए कुछ विशेषणों और संज्ञाओं से भी क्रियाएँ बनाने लगे, जैसे 'छेद' से 'छेदना'।"

हम लोग समझते हैं—छेदना से 'छेद' और वर्मा जी कहते हैं कि 'छेद' से 'छेदना' ! संस्कृत में 'छिद्' (धातु) से 'छेद' बना है। हिन्दी में भी इसे धातुज संज्ञा लोग मानते हैं। वर्मा जी कहते हैं कि यह संज्ञा (छेद) 'धातुज' नहीं; प्रत्युत 'धातुप्रसू' है। 'अन्तरं महदन्तरम्' ! गेहूँ से आटा और आटे से गेहूँ ! हाँ 'घड़े से मिट्टी' तो सुनी है; पर 'आटे से गेहूँ' भी सुन लिया !

[ज] वर्मा जी व्याकरण के उस तत्त्व पर विचार कर रहे हैं, जिसे साधारण व्याकरणों में 'कर्म' कहा जाता है। आप अकर्मक-सक-

र्मक क्रियाओं की बारीकियाँ समझाने के बाद कहते हैं—"अकर्मक और सकर्मक का यह विवेचन तो हुआ, पर दो बातें और ऐसी हैं, जिन्हें स्पष्ट किये बिना यह अधूरा ही रह जायगा। कहना होता है—'मैं प्रयाग जाता हूँ' इत्यादि। 'जाना' है तो अकर्मक क्रिया और व्याकरण के नियम के अनुसार स्थान का नाम('प्रयाग' आदि] 'कर्म' तो हो नहीं सकता; तब उन्हें 'पूर्ति' कहते हैं।"

यही आचार्यत्व है। 'पूर्ति' नाम की एक नयी चीज निकाली वर्माजी ने। 'मैं प्रयाग जा रहा हूँ' में प्रयाग कर्म इसलिये नहीं कि जाना क्रिया अकर्मक है, और अकर्मक इसलिये है कि वर्मा जी वैसा कह रहे हैं। तब 'प्रयाग' आदि हैं कौन-से कारक जहाँ पहुँचना है? उन्हें वर्माजी 'पूर्ति' कहते हैं। पाणिनि आदि ने उन क्रियाओं को सकर्मक माना है, जिनका 'जाना' अर्थ है और जहाँ जाना है वह (गन्तव्य स्थान) 'कर्म' कारक उन पुराने लोगों ने कहा है। परन्तु ये सब पुरानी बातें हैं, बदलनी होंगी। 'जाना' अकर्मक है और प्रयाग जाऊँगा, 'कानपुर गया था' आदि में प्रयाग-कानपुर आदि कर्म नहीं, 'पूर्ति' हैं। याद कर लीजिए। इन्हें 'कर्म' ही कहा जाय, 'पूर्ति' नया नाम न रखा जाय, सो हो नहीं सकता; क्योंकि हिन्दी प्रगति-पथ पर है। सुधार करना है। परिष्कार की जरूरत है! वह कौन-सा व्याकरण है, जिसके नियम वर्माजी ने याद किये हैं? !

(झ) "हम सदा यही कहेंगे—'सेर भर आलू से काम न चलेगा'। कारण यही है कि व्याकरण की दृष्टि से हमें 'सेर भर का ही ध्यान रखना पड़ेगा, 'आलू' का नहीं। हाँ, जब उस 'सेर' के साथ भी कोई संख्या

लगेगी, तब वाक्य के वचन पर उसका प्रभाव पड़ेगा। जैसे—'तुमने सेर भर की जगह दो सेर आलू भेज दिये'।"

याद कर लीजिए। यदि संख्या न हो, तब बहुवचन वर्मा जी के मत से न होगा। बोलना होगा--

१—सेर भर आलू भेज दिया !

२—मन भर आलू भेज दिया !

यदि आप ने यों कह-लिख दिया—

१—सेर भर आलू भेज दिये !

२—मर भर आलू भेज दिये!

तो सब गलत हो जायगा ! कारण, यहाँ कोई संख्यावाचक विशेषण 'सेर' और 'मन' का तो है ही नहीं।

आगे और—

"यही बात 'एक बोरा मैदा आया है' और 'चार बोरे मैदा आया है' के सम्बन्ध में भी है !"

'यही बात है'--एक ही बात ! हाँ, वहाँ 'आलू भेज दिये हैं' और यहां 'मैदा आया है।' भले ही चार बोरे सही ! जनाब समझ जाने क्या रहे हैं !

एक बात और मालूम हुई कि 'मैदा' पुलिङ्ग शब्द है। हिन्दी में, वर्माजी ने जोर देकर 'हिन्दी प्रयोग' में कहा है, लिङ्ग-सम्बन्धी गलतियां तो होनी ही न चाहिए ! वे जेब, चपत, मैदा आदि को पुलिङ्ग में यहाँ (हिन्दी में) चलाना चाहते हैं; क्योंकि फारसी तथा उर्दू में ये सब पुलिङ्ग ही हैं। संस्कृत के पुलिङ्ग या नपुंसक-लिङ्ग शब्दों को हिन्दी में हम स्त्री-लिङ्ग बोलते हैं, सो और बात

है; पर फारसी आदिके शब्दों का वही लिङ्ग आदि रहना चाहिए, जो वहाँ (फारसी आदि में) निश्चित है, या उर्दू में है। अन्यथा लोग हमें--हिन्दी वालों को--मूर्ख कहेंगे ! वे लोग 'चर्चा' को भी उर्दू में पुल्लिङ्ग चलाते हैं। हम 'मैदा' को भी वैसा न चलने दें !

वर्मा जी फारसी आदि से आये हुए शब्दों को उसी रूप में चलाना चाहते हैं हिन्दीमें। 'पृष्ठ' के अर्थ में 'सफा' भी हिन्दी में बोल देते हैं। वर्माजी ने कोश में ऐसे सहस्रशः शब्द संगृहीत किये है। परन्तु 'सफा' नहीं, आप 'सफहा' के पक्षपाती हैं। 'पचीसवें सफे पर देखो' की जगह हिन्दीमें 'पचीसवें सफहे पर देखो', यों 'शुद्ध' वर्माजी चाहते हैं ! तब 'मैदा अच्छा है' कहना ही होगा ! हाँ, हवा, दवा, आदिकी बात और है। ये स्त्री-लिंग जरूर हिन्दीमें चलेंगे; क्योंकि उर्दू में भी ये स्त्रीलिंग ही चलते हैं ! समझे ? 'मैदा' फारसी से आया है न ! देखिए, मैंने 'आया है' लिखा है न ? (लिखना चाहिए 'आता है', वर्मा जी के अनुसार ।)

बस इसी तरह 'हिन्दी प्रयोग' में अनन्त शिक्षा है। कहाँ तक वर्णन किया जाय ? 'कौन-कौन गुन गाऊँ रामके !'

अच्छी हिन्दी का नमूना

छपाई की शुद्धाशुद्धि

पेज	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	दूसरा	दूसरों
२	१९	माना	मानों
२	१७	ह्रम	हम
२	२१	विष्नय	विषय
३	१	वर्माजा	वर्माजी
३	५	वाकु,	वाक्
३	१०	वाकु	वाक्
३	१९	बड़ो	बड़ी
४	१३	महत्वपूर्ण	महत्त्वपूर्ण
४	९	भीं	भी
५	५	लिये	लिए
५	८	बानरों	वानरों
५	१०	कमी	कमी
५	१५	लिये	लिए
५	२१	चाहिये	चाहिए
६	१०	कि	की
६	१७	जसे	जैसे
६	१८	है	हैं
७	१९	व्यथ	व्यर्थ
८	३	मा	मी
८	१०	इच्छाए	इच्छाएँ
८	१२	बुःख	दुःख
८	२०	अलगा	'अ'लगा

पेज	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
९	१	काय	कार्य
१०	१६	हैं	है
११	१	आर	और
११	९	हैं	है
११	१७	आर	और
११	१९	यां	यों
१२	७	वक्तृत्त्व	वक्तृत्व
१३	४	हो	हों
१५	७	तत्त्व	तत्व
१५	७	अच्छ	अच्छी
१५	१३	सौन्दय	सौन्दर्य
१८	१२	तत्त्व	तत्व
२३	२०	या	यों
३३	२२	बेढंगा	बेढँगा
३४	१६	हागा	होगा
३६	५	चीज	चीजें
३७	२	उन्हैं	उन्हें
३७	१३	विथेय	विधेय
३८	९	दोनों	दोनो
४०	७	शप्दों	शब्दों
४१	४	ता	तो
४१	१४	दोनों	दोनो
४२	१९	सन्दह	सन्देह
४३	१९	अंगूर	अंगूर
४४	१	अथ	अर्थ
४४	६	चाहिए	चाहिए

पेज	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
४५	९	का	की
४६	१२	याँ	यों
४७	२	का	को
४९	१२	महत्व	महत्त्व
५०	१	बड़े-वड़े	बड़े-बड़े
५३	७	अथ	अर्थ
५४	२१	मुंह	मुँह
५६	२	का	की
५६	१६	सवत्र	सर्वत्र
५७	२२	ा	की
५९	१०	का	को
५९	२१	योग्य	योग्य है
६०	२१	का	की
६१	१४	भों	यों
६२	५	अवसर	अवसरों
६३	२२	वर्माजो	वर्माजी
६५	४	को	की
६६	८	हो	ही
६७	३	सामानार्थक	समानार्थक
६७	१७	भो	भी
६८	१०	करतु	करते
७१	४	दोनों	दोनो
७३	२०	है	हैं
७६	१०	दोनों	दोनो
७७	१६	निढेंशक	निर्देशक
७८	२	उसो	उसी

पेज	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
७८	६	निढेंशक	निर्देशक
८१	३	गौन	गौण
८२	६	क्या	क्यों
८२	२१	उदाहरणां	उदाहरणों
८३	१८	चनाआं	चनाओं
८३	१९	कसे	कैसे
८५	२२	जायगे	जायेंगे
८५	२३	बठे	बैठे
८६	२	वाक्यां	वाक्यों
८६	३	यां	यों
८६	६	जा	जो
८७	७	शब्दां	शब्दों
८७	९	जा	जो
८७	१९	अभ्यरत	अभ्यस्त
८८	१२	क्यां	क्यों
९०	२०	तुम्हे	तुम्हें
९०	२३	ाजन	जिन
९१	१	चुका	चुकी
९१	२	समात	समास
९१	१५	बरावर	बराबर
९१	१८	दूषत	दूषित
९१	१८	प्रन्नात्त	प्रवृत्ति
९३	३	बर्माजो	वर्माजी
९९	२	बेढंगा	बेढँगा
९९	११	इसके प्रकार	इस प्रकार के
९९	२१	क्यांकि	क्योंकि

पेज	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१००	२	हो	ही
१००	२	दोनों	दोनो
१०३	१६	में	मे
१०४	७	ता	तो
१०५	२२	मान	मानो
१०६	१९	लेख का	लेखक का
१०८	८	को	की
१०९	७	उद्देस्य	उद्देश्य
१११	१४	कि	की
१११	२०	ज्ञानर्थक	ज्ञानार्थक
११२	१	है	हैं
११२	१६	हो	ही
११२	१६	हैं	है
११३	९	नहीं	नहीं
११४	५	षुल्लिग	पुल्लिग
११४	१८	मो	भी
११६	१९	'आर'	'ओर'
११८	२०	महत्व	महत्त्व
११९	११	स्त्रीलिँग	स्त्रीलिंग
१२२	१३	मे	से
१२३	१	द	दे
१२३	५	प्रयोन	प्रयोग
१२६	११	यां	यों
१२६	१६	तस्य	तस्य
१२७	२३	...।	है।
१२७	२३	......वचन	इसीलिए एकवचन

पेज	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१३०	१०	घोंसलां	घोंसलों
१३०	१८	क्या	क्यों
१३१	८	दुरुपयाग	दुरुपयोग
१३१	९	चिह्व	चिह्न
१३१	१३	है	हैं
१३४	१४	हें	हैं
१३५	२	वाक्यां	वाक्यों
१३७	५	बे	बेच
१३७	२२	ओर	और
१४१	५	ये	यें
१४२	९	आमा	आमों
१४२	२३	है	हैं
१४३	३	ससमझते	समझते
१४३	७	जो	जी
१४३	११	क्यों	क्या
१४३	१९	पैनीस	पैंतीस
१४३	२१	दोनों	दोनो
१४६	२२	हो	ही
१४६	२३	हा	हो
१४८	१७	है	हैं
१४९	७	क्यां	क्यों
१४९	११	पराधोन	पराधीन
१५०	३	भे	भी
१५०	१०	प॰/	पढ़ाई
१५१	११	ढँग	ढग
१५१	१३	ढँग	ढंग

पेज	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१५१	१७	ने भी रग	ने भी रँग
१५१	२०	प्रक्त्ति	प्रकृति
१५२	२१	शव्दों	शब्दों
१५२	२२	रिव्ख	लिख
१५३	४	बिरोधी	विरोधी
१५३	५	ठाक	ठीक
१५३	७	गरूर	ग़रूर
१५३	१७	भानेंगे	मानेंगे
१५५	१०	अप्र···	अपने
१५६	५	ह्,	हाँ
१५६	१७	पुतक	पुस्तक
१५६	१७	ाढ़ा	पढ़ा
१५६	१७	पुतक	पुस्तक
१५७	४	व्युत्पति	व्युत्पत्ति
१५७	९	शज्द	शब्द
१५८	२२	ह	है
१५९	१८	विसग	विसर्ग
१६१	२०	कम	कर्म
१६३	२	स्वय	स्वयं
१६३	२३	कुनेन	कुनैन
१६५	४	माग	मार्ग
१६५	४	जल्-या	'जल-मा'
१६५	१५	चिह्ल	चिन्ह
१६८	१८	हैं	है
१६८	२०	हा	हो
१६९	१	बताय	बताया

पेज	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१६९	६	कृति	प्रकृति
१६९	७	जायगे	जायँगे
१७०	६	त्यां	त्यों
१७०	१२	आदावअज्ञ	आदाव अर्ज
१७०	१९	की	का
१७२	१०	तद्भ्रव	तद्भव
१७२	१४	वनाना	बनाना
१७३	२३	भजदी	भेजदी,
१७५	४६	भापाओं	भाषाओं
१७५	११	ओर	और
१७६	७	२—	१—
१७६	२२	वर्तमानसमीप्ये	वर्तमानसामीप्ये
१८२	[illegible]	शव्दां	शब्दों
१८३	२१	समस्त पद	समस्त-पद
१८४	१४	विशुद्ध	विशुद्ध
१८४	१९	ता	तो
१८५	७	नहीं	नहीं,
१८६	१९	चन्द्रभाव	चन्द्राभावे
१८८	१८	पावैंगी, ।	पावैंगो' ।
१८९	९	चाहते हैं (।)	चाहते हैं ।
१८९	१५	जाइयो	जाइ गो
१८९	२२	कुँवर'	'कुँवर',
१९१	१३	हा	हों
१९२	९	अँगूठिया	अँगूठियों
१९४	८	इसलिये	इसलिए
१९४	९	इसलिये	इसलिए
१९४	१५	प्रयाग जाऊँगा	'प्रयाग जाऊँगा',